आदिवासी सभ्यता एवं संस्कृति के सूत्र

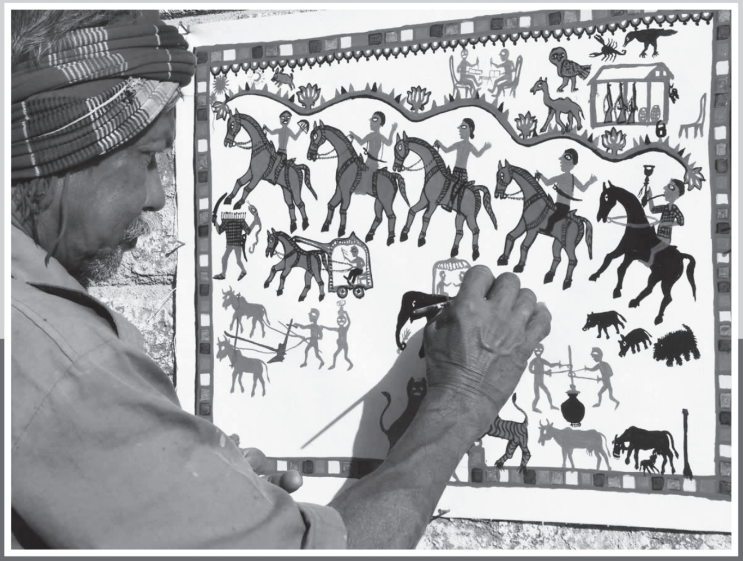

● गणि राजेन्द्र विजय

© सुखी परिवार फाउंडेशन

प्रथम संस्करण : 2017

मूल्य : 250 रुपए

लेखक : गणि राजेन्द्र विजय

संपादक : ललित गर्ग

प्रकाशक :
सुखी परिवार फाउंडेशन
ई–253, सरस्वती कुंज अपार्टमेंट
25 आई.पी. एक्सटेंशन, दिल्ली–110092
फोनः 9811051133
Email:lalitgarg11@gmail.com

डिजाइन :
कल्पना प्रिंटोग्राफिक्स

मुद्रक :
नगीन प्रकाशन
मेरठ

Aadivasi Sabhyata Evam Sanskirti Ke Sutra **Rs. 250**
By : Gani Rajendra Vijay

समर्पण

भारत की समृद्ध लोक कला परंपरा में आदिवासी पिथौरा कला का महत्वपूर्ण स्थान है। आदिवासी जनजीवन में पिथौरा देव एवं पिथौरा कला का गहरा रंग है, यह वहां की जीवनशैली है। यह वहां की सभ्यता और संस्कृति का अभिभाज्य अंग है जिससे आदिवासी जनजीवन नई ऊर्जा प्राप्त करते हैं। मेरी प्रस्तुत कृति महान आदिवासी देव एवं कला को समर्पित करते हुए मुझे अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

गुजरात और मध्य प्रदेश के भीलों की रथवा जनजाति का विश्वास है कि संसार की रचना पहली बारिश और पृथ्वी के संयोग से हुई। विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताओं की तरह उनके गीतों में चार महाद्वीप वाली रानी पृथ्वी और इंदीराजा का वर्णन है जो स्वर्ग में रहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी को माता और आकाश को पिता मानकर उनके साहित्य और पिथौरा कला की रचना हुई है। पिथौरा कला के लोकचित्रों में बैल और गाय को भी प्रमुखता के साथ चित्रित किया गया है। यह कला आस्था और भक्ति का अनूठा नमूना है।

जंगल, जल, बादल, अंधे और लंगड़े प्राणियों को भी कला का विषय बनाया गया है। घोड़ों का हर स्थान पर बहुत महत्व के साथ चित्रण हुआ है। उन्हें दौड़ते हुए और आकाश में उड़ते हुए दिखाया गया है। आज भी इस जनजाति में विवाह जैसे सभी मांगलिक एवं शुभ अवसरों पर घर के भीतर के कमरे में देवता की स्थापना की जाती है तथा दीवारों पर पारंपरिक नियमानुसार पिथौरा देव के चित्र अंकित किये जाते हैं। आदिवासी उद्धारक एवं उन्नायक, आस्था के केन्द्र पिथौरा देव एवं कला को मेरा शत् शत् नमन एवं मेरी यह कृति उन्हें समर्पित।

—गणि राजेन्द्र विजय

भूमिका

आदिवासियों की खुद की एक अपनी सभ्यता और संस्कृति है जिसमें वे जीते हैं। उनका एक तौर तरीका है, रहन–सहन का, भाषा का, बोली का, संस्कृति का तथा अपना एक अलग तरीका है जीवन को जीने तथा समझने का। वे जिस हालत में हैं खुश हैं। उनके अपने स्कूल या शिक्षा तंत्र हैं, उनके खुद के खेल या प्रथाएं हैं, खुद के ही देवी देवता हैं, खुद के ही रोजगार के साधन हैं तथा खुद की ही परंपरा और सभ्यता है। इसी तरह सदियों से जंगल में रहते हुए उन्होंने खुद का ही एक स्वास्थ्य का या उपचार करने का तंत्र भी विकसित किया है जो कि उन तथाकथित विकसित सभ्यताओं के तंत्र से कहीं अधिक विकसित है जो विदेशी आक्रान्ताओं के हमलों से निरंतर बदलती रही हैं। उनके स्वास्थ्य–तंत्र में वे सर्पदंश, हड्डी जोड़, कैंसर, मधुमेह, चर्मरोग इत्यादि जैसी कई बीमारियों का इलाज करते हैं तथा इन सभी बीमारियों को जड़ से मिटा देने वाली अद्‌भुत जड़ी–बूटियां उनके पास जंगलों में मौजूद हैं। जल, जंगल, जमीन और जीवन उनका स्वतंत्र हैं लेकिन वे इस

स्वतंत्रता के बावजूद राष्ट्रीयता एवं भारत की माटी से जुड़े हैं। आदिवासी जीवन को उन्नति और उत्थान की ओर अग्रसर करने में प्रख्यात जैन संत गणि राजेन्द्र विजयजी म.सा. का अमूल्य योगदान है। वे आदिवासी जनजीवन के महान जननायक हैं, समाज सुधारक हैं और आदिवासी संस्कृति के पुरोधा पुरुष हैं। उन्होंने 'आदिवासी सभ्यता एवं संस्कृति के सूत्र' पुस्तक की रचना करके आदिवासी संस्कृति को जन–जन के सामने महिमामंडित करने का अद्‌भुत और विलक्षण कार्य किया है। यह पुस्तक आदिवासी संस्कृति, जनजीवन, शिक्षा, भाषा, व्यापार, धर्म, स्वास्थ्य, रोजगार, देवी–देवता, लोक नृत्य, नारी जीवन आदि का विवेचन करती है। ऐसे ही विरल व्यक्तित्व आदिवासी सभ्यता और संस्कृति को जीवंतता प्रदत्त करते हैं।

पूज्य गणि राजेन्द्र विजयजी एक तपस्वी और साधक पुरुष हैं। वे उच्चकोटि के लेखक और प्रवचनकार भी हैं। वे आदिवासी जनजीवन में पैदा हुए हैं और एक आदिवासी का जैन मुनि बनना एक अद्‌भुत घटना है। उनका जीवन इसी तरह की विलक्षणताओं और अद्‌भुतताओं का समवाय है। उन्होंने आदिवासी जनजीवन और उनकी समस्याओं को खुली आंखों से देखा है। उन समस्याओं का अध्ययन किया है, आंखें बंद कर एवं गहन साधना में उतरकर उनका समाधान खोजा है। उनकी अंतरात्मा से जो समाधान मिले, वे अमूल्य धरोहर हैं। राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में उन्होंने जो अवदान दिए, विशेषतः आदिवासी जनजीवन के विकास के लिए जो प्रयत्न किए वे अविस्मरणीय हैं और मेरे लिए अनुकरणीय भी हैं। मुझे भी उनसे समय–समय पर प्रेरणा मिलती रहती है। उन्होंने अपने जीवन को आदिवासी विकास के लिए समर्पित किया है। ऐसे महान आदिवासी संस्कृति पुरुष के द्वारा अपनी ही संस्कृति यानी आदिवासी संस्कृति को प्रस्तुत करना स्वागतयोग्य है। यह इस कृति की विशेषता के साथ–साथ मूल्यवत्ता को बढ़ायेगी। क्योंकि आदिवासी पर एक आदिवासी का लेखन उसकी विश्वसनीयता एवं ग्राह्यता को बढ़ाता है।

गणिजी आदिवासी जनजीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं और मैं

भी आदिवासी जनजीवन का ही प्रतिनिधित्व करता हूं। मैं खुद भी आदिवासी हूं और मुझे आदिवासी होने का गर्व है। जीवन की कुछ घटनाओं ने मुझे राजनीति के साथ–साथ धर्म और अध्यात्म में अग्रसर किया है, मेरी धार्मिक निष्ठा को मजबूत किया है। इस दृष्टि से गणि राजेन्द्र विजयजी म.सा. का मुझे जो मार्गदर्शन मिला, प्रेरणा मिली वो मेरे जीवन की एक नई दिशा है। उनकी अनेक पुस्तकें पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। वे सुखी परिवार अभियान के माध्यम से राष्ट्रीय उत्थान का बड़ा कार्य कर रहे हैं। मैं उनके इन मानव कल्याणकारी कार्यों से अभिभूत हूं। विशेषतः आदिवासी जीवन के लिए उनकी ललक एवं तड़फ प्रेरक हैं। आदिवासी संस्कृति का अर्थ है ऊंची संस्कृति। वे देशवासियों को आदिवासियों के उन विराट सांस्कृतिक मूल्यों से अवगत कराना चाहते हैं। इसी प्रयोजन से उन्होंने 'आदिवासी सभ्यता एवं संस्कृति के सूत्र' पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक में आदिवासी जनजीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति देने के साथ ही उनके जीवन के साथ जुड़े अनुभवों को भी एक नई भाषा दी गयी है। सहज ग्राह्यशैली में लिखी गई इस पुस्तक में भारत की गौरवमयी आदिवासी संस्कृति एवं इनके आदर्श जीवन मूल्यों को एक विशेष अभिव्यक्ति मिली है।

सबसे बड़ी विशेषता इस पुस्तक की यह है कि इसमें आदिवासी संस्कृति एवं परम्परा पर एक नये दृष्टिकोण एवं नये सोच से विचार किया गया है तथा आदिवासी जीवन का व्यावहारिक विश्लेषण प्रस्तुत कर नई मान्यताओं को जन्म दिया गया है। आदिवासी होने के कारण एवं आदिवासी जनजीवन में मेरी रुचि के कारण मैंने इस पुस्तक के बारे में विचार देने का निश्चय किया जबकि मैं कोई लेखक नहीं हूं लेकिन इस पुस्तक के गागर में सागर भरने वाले विचारों ने मुझे इसके लिए प्रेरित किया। आदिवासी जनजीवन की परम्पराओं और उनकी जीवनशैली को सरलता से जानने तथा उनके कलात्मक जीवन जीने के सूत्रों का ज्ञान कराने हेतु यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

इस सदी में भारतीय संतों, मनीषियों और संस्कृतिकर्मियों के मौलिक चिंतन एवं अनुसंधान ने संसार को चमत्कृत किया है।

समस्या यह नहीं है कि आदिवासी लोगों ने अपनी अंतर्दृष्टि खो दी। समस्या यह है कि उन्होंने अपना आत्मविश्वास खो दिया है। आज सबसे बड़ी अपेक्षा यह है कि आदिवासी अपना मूल्यांकन करना सीखे और खोई प्रतिष्ठा को पुनः अर्जित करे। यह कार्य राजनीति के आधार पर संभव नहीं है। इसके लिए संतपुरुषों एवं संस्कृतिकर्मियों को जागरूक होना होगा और एक सशक्त मंच बनाकर आदिवासी संस्कृति को जीवंत करना होगा। आज की नाजुक घड़ी में राष्ट्र के निर्माताओं से मेरा आह्वान है कि आदिवासी सभ्यता, संस्कृति और स्वतंत्रता की जो पवित्र धरोहर हमें सौंपी गई है, हमारा कर्तव्य है कि हम उसे पवित्रतम बनाकर अपनी भावी संतति को समर्पित करें।

हमारे प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी भी समय–समय पर आदिवासी संस्कृति की अक्षुण्णता को उजागर करते रहते हैं। वे आदिवासी संस्कृति की जीवंतता को बनाये रखने के लिए प्रयासरत हैं। आदिवासी लोग आज भी अपनी सभ्यता और संस्कृति को बचाये हुए हैं और उनकी सभ्यता और संस्कृति में ही देश को लाभ है एवं उसी से समग्र विकास संभव है। आदिवासियों में अपनी आर्थिक समस्याओं को हल करने की क्षमता है। मेरा यह विश्वास आज जितना दृढ़ है, उतना पहले कभी नहीं था। मोदीजी ने जिस तरह आदिवासी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए जो विचार दिये हैं उसी तरह के विचारों को गणि राजेन्द्र विजयजी ने प्रस्तुति दी है।

इतिहासकारों का मानना है कि आर्यों ने भारत में जातियों और संस्कृतियों का जो समन्वय किया, उसी से हिंदू समाज और हिंदू संस्कृति का निर्माण हुआ। बाद में जो भी आए, उन्होंने इस हिंदू संस्कृति को स्वीकार किया और उसमें समाहित हो गए, आदिवासियों ने उस हिंदू धर्म और संस्कृति को आगे बढ़ाया। आदिवासियों को वनवासी भी कहते हैं, हिंदू धर्मग्रंथों में वर्णित कुछ कहानियों और मिथकों से समझा जा सकता है कि वनवासियों की इस देश के निर्माण में कितनी महत्वपूर्ण भूमिकाएं रही हैं।

हनुमान को वनवासियों का पूर्वज बताते हुए उन्हें राम का परम

सेवक होने का दर्जा दिया गया है। महाभारत की कथा के अनुसार एक आदिवासी युवक एकलव्य ने धनुर्विद्या में महारत हासिल की और वह अर्जुन से भी प्रखर और तेजस्वी था। गुरु दक्षिणा में उसने अपना अंगूठा देकर त्याग का महान आदर्श उपस्थित किया। तब से लेकर आज तक आदिवासी देकर ही संतुष्ट होते रहे हैं। आज भी तथाकथित विकास के नाम पर आदिवासी समाज से कुर्बानी मांगी जाती है। और वे अपनी कुर्बानी देने को तत्पर रहते हैं।

दरअसल रंग–रूप और भाषा की खाई को तो पाटा जा सकता है, लेकिन कुछ ऐसी बातें होती हैं, जिन्हें पाटना मुश्किल होता है। मसलन, जीवन के बारे में हमारा दृष्टिकोण, प्रकृति के साथ हमारे रिश्ते आदि। आदिवासियों और गैर–आदिवासियों की जीवन दृष्टि के फर्क को हम कुछ ठोस उदाहरणों से समझ सकते हैं।

ईश्वर की कल्पना किसी न किसी रूप में सभी धर्मावलंबी करते हैं। गैर–आदिवासी समाज ईश्वर की कल्पना सगुण रूप में एक सुपुरुष के रूप में करता है। राम, कृष्ण या विष्णु आदि अलौकिक शक्तियों से संपन्न पुरुष हैं। ईश्वर का निर्गुण रूप भी मानवीय गुणों से संपन्न है। जबकि आदिवासी प्रकृति पूजक होते हैं। वे जल, जमीन, जंगल, पहाड़ और पेड़ को पूजते हैं।

पूरी हिंदू सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था वर्णाश्रम धर्म पर टिकी हुई है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, उसके चार भाग हैं। ब्राह्मण पुजारी–पुरोहित और शिक्षक होता है, क्षत्रिय के हाथ में शासन व्यवस्था, वैश्य के जिम्मे वानिकी और व्यापार और शूद्र के जिम्मे सभी की सेवा करना, सभी तरह का मानवीय श्रम करना। आदिवासियों में यह वर्ण व्यवस्था नहीं है।

आदिवासी समाज श्रम आधारित समाज है और गैर–आदिवासी समाज दूसरे के श्रम के शोषण पर टिका समाज है। खुद रिक्शा खींच कर जीवनयापन करने वाला श्रम आधारित समाज की रचना करता है। जब कोई दो–चार–दस रिक्शा दूसरे से खिंचवा कर यही काम करता है तो कहा जाएगा कि वह दूसरे के श्रम के शोषण पर टिका है। गैर–आदिवासी समाज का भी एक बड़ा हिस्सा कृषि व्यवस्था पर टिका है, लेकिन वहां जमीन का मालिक वैसा व्यक्ति

भी हो सकता है, जो खुद खेती न करता हो। पूरे उत्तर भारत में कृषि व्यवस्था दिहाड़ी मजदूरों पर टिकी हुई है। आदिवासी समाज में ऐसी कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

पूरी गैर–आदिवासी व्यवस्था अतिरिक्त उत्पादन और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांतों पर टिकी है। विकास के लिए जरूरी है अतिरिक्त उत्पादन और मुनाफा। कुछ लोगों के श्रम से उनकी जरूरत से अधिक कृषि क्षेत्र में उत्पादन हुआ तभी मानव जाति के विकास का रास्ता खुला। आदिवासी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था अतिरिक्त उत्पादन और अतिरिक्त मूल्य या मुनाफे के सिद्धांत का पूरी तरह निषेध करती है। वह उतना ही उत्पादन करती है जितने की उसे जरूरत है। वह कल की चिंता नहीं करती और इसलिए प्रकृति का उतना ही दोहन करती है जिससे उसका नुकसान न हो।

सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था की तरह ही आदिवासी लोक संस्कृति भी समता पर केन्द्रित है। पीड़ा और उल्लास के क्षणों की भी सामूहिक अभिव्यक्ति होती है, उसमें सभी भागीदार होते हैं। फसल कटने के बाद चांदनी रात में नाचते वक्त आदिवासी समाज का हर औरत–मर्द कलाकार बन जाता है। दूसरी तरफ अगर कोई अच्छा बांसुरी बजाता है तो वह उसका अतिरिक्त गुण तो है, लेकिन इस वजह से उसे इस बात की छूट नहीं कि वह अपने खेत में काम न करे। इस तरह की व्यवस्था संतुलन एवं समतामूलक समाज की आधारशिला रखती है।

आदिवासी जीवन एवं दर्शन की सहज प्रक्रिया में अंतरंग समन्वय और सहज सामंजस्य का कमल खिलता रहा है और भारतीय जीवन की सबसे महत्वपूर्ण विरासत के रूप में उसे लोकमान्यता प्राप्त हुई है। यह पुस्तक उस लोकमान्यता की एक समकालीन एवं व्यावहारिक व्याख्या है जो शास्त्र एवं सिद्धांत की जड़ों तक पहुंचती है और समकालीन आदिवासी जीवन में प्रत्येक शाखा–प्रशाखा में सम्यक् जीवन में सुरभित सुमन सरसाती है।

अनेक विषयों पर मौलिक विचार और व्याख्याएं रखते हुए पूज्य गणिजी ने अपने चिंतन का नवनीत प्रस्तुत किया है। पुस्तक का हर पृष्ठ और उस पर उकरा विचार चिंतनपरक, प्रेरणा–प्रदायक,

ज्ञानवर्द्धक, प्रभावक व रोचक हैं। आदिवासी जीवन की जटिल समस्याओं का समाधान करने, उनकी संस्कृति को समझने, मुक्ति व प्रसन्नता की अनुभूति करने की दृष्टि से यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। गणि राजेन्द्र विजयजी ने अपने अनुभवपरक चिंतन को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है।

मैं आशा करता हूं कि यह कृति रुचि से पढ़ी जायेगी और आदिवासी संस्कृति को समझने का सशक्त माध्यम बनेगी। शोधार्थियों के लिए भी यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

– फग्गन सिंह कुलस्ते
केन्द्रीय स्वास्थ्य एवं
परिवार कल्याण राज्यमंत्री,
भारत सरकार

अपनी बात

आदिवासी समाज की पहाड़ जैसी समस्याओं और एक समृद्ध संस्कृति को झुठलाने की कोशिशों ने मुझे यह पुस्तक लिखने को प्रेरित किया है। आदिवासी माटी में पैदा होने के कारण उसे तिलक करने का मन सदैव करता है और इसी कारण हर सांस में आदिवासी बसे हैं। जबकि आज आजादी के सात दशक बाद भी आदिवासी समाज उपेक्षित है, पीड़ित है और अपने मूल अधिकारों के लिए संघर्षरत हैं।

इस देश के सैकड़ों आदिवासी समुदाय आज भी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और मानसिक स्तर पर भारतीय मुख्य समाज से अलग–थलग जंगल–पहाड़ों में प्रकृति पर आधारित जीवन जी रहे हैं। उनके लिए लोकतंत्र और भौतिक विकास अभी पराया लगता है। अबूझमांड़ के लंगोटीधारियों से लेकर दूरदराज बंगाल की खाड़ी के काले समुद्र के बीच बिखरे टापुओं में वन्यजीवों की तरह जीवन से जूझते अंडमानी कबीलों तक के मन में अभी वायुयान एक आसमानी अजूबा बना हुआ है।

अधिकतर आदिम समुदाय अलग–थलग भौगोलिक अंचलों में बसते हैं, फिर भी उनकी जीवन–शैली में समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं, जिसकी एकमात्र वजह है उनका 'आदिम' होना, यानी प्रकृति पर निर्भरता। विभिन्न आदिम समुदायों के बीच अनेक समानताओं के बावजूद राष्ट्रीय स्तर पर उनमें एकता का अभाव चौंकाता और चिंतित करता है।

सवाल सामाजिक न्याय के प्रति सकारात्मक सोच का भी है। प्रगति के पथ पर जो वर्ग आगे बढ़े या बढ़ रहे हैं, उनकी सहमति और सहयोग से पिछड़ों के उत्थान कार्य को आगे बढ़ाना सभ्य और संस्कारयुक्त समाज का दायित्व होना चाहिए। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मैंने 'आदिवासी सभ्यता और संस्कृति के सूत्र' पुस्तक की रचना की है जिसमें आदिवासी संस्कृति की विशेषताओं, मूल्यवत्ता और समृद्धता को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि लोकतांत्रिक विकास आदिवासी समाज की देहरी तक नहीं पहुंच रहा है। सवाल है कि संविधान और परवर्ती योजनाओं में पर्याप्त प्रावधान होने के बावजूद आखिर 'खोट' कहां है? देश के सामंती समाज ने आदिवासियों को कभी सम्मान से नहीं देखा। उन पर कई बार कहर ढाए। यहां के प्रगतिशील और मानवाधिकारों की बढ़–चढ़ कर दुहाई देने वाले समाज भी इन्हें काफी हद तक हिकारत से ही देखते रहे हैं। मुख्यधारा का समाज आदिवासियों पर दया दिखाने, इनकी पहाड़–सी आपदाओं से सहानुभूति दिखाने को तो तैयार है, मगर इनके नाम पर आबंटित सरकारी धन को गैर–सरकारी संगठनों के सहारे या सीधे भ्रष्टाचार आदि के रास्ते लूट लेने को भी अपना कर्तव्य समझता है।

आजादी के बाद से आदिवासियों के नाम पर उठाए गए इन कदमों का एक प्रत्यक्ष प्रभाव यह देखने को मिलता है कि आदिवासियों को मुख्यधारा में शामिल करने के नाम पर उनकी सदियों से निर्मित पूरी सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक व्यवस्था ढाह दी गई है। उस 'आदिम' व्यवस्था में आदिवासी समाज अपने ढंग से अपने पर्याप्त–अपर्याप्त उपलब्ध संसाधनों के सहारे खुशी

से जीवनयापन कर लेता था। रुखा–सूखा खा लेता था और ढोल–मांदल की धुन पर अपनी प्रेयसी के संग नाच–गा लेता था। मगर इस नई सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक व्यवस्था से बढ़ते परिचय के साथ उसके ढोल–मांदल तो हाथ से छूटे ही, उसकी प्रेयसी और उसके खेत–खलिहान भी उसके हाथ से निकलते चले गए। जो आदिवासी समाज बलात्कार–छेड़छाड़ का नाम नहीं जानता था, इस नई 'सभ्य' व्यवस्था से परिचय के बाद उसने अपनी बहनों–प्रेयसियों को सामूहिक रूप से नुचते–लुटते देखा।

आजादी के बाद से अब तक कोई पांच करोड़ आदिवासी विस्थापित हो चुके हैं। आदिवासियों के लिए ही बने अलग झारखंड राज्य में इसके बनने के बाद प्रतिवर्ष एक लाख के हिसाब से लगभग सोलह लाख आदिवासी विस्थापित हो चुके हैं। आधे विस्थापित गायब हो चुके हैं– झारखंड से ही नहीं, शायद इस धरती से ही। लाखों आदिवासी महिलाएं बलात्कार के बाद हत्या की शिकार हो चुकी हैं। लाखों लड़कियां भुखमरी के कारण शहरों में नौकरानियां बनने और वेश्यालयों में बिकने को मजबूर हो रही हैं। विस्थापन के बाद मिले मुआवजे को स्थानीय तथाकथित ठेकेदारों ने लूट लिया। निरक्षर आदिवासी न मुआवजे को बचा कर उसका कोई बेहतर इस्तेमाल कर सका और न विकास परियाजनाओं–कारखानों में नौकरी पा सका। सभी नौकरियां बाहरी गैर–आदिवासी लोग लूट ले गए। आदिवासियों के पहाड़–खेत–खलिहान बाहरी लोगों के रईसी जीवन के साधनों में तब्दील हो गए। जंगल उजड़ गए, झरने सूख गए और नदियां जहरीली हो गईं। आदिवासी को मिला बेचारगी, भुखमरी, प्रदूषण से भरा जीवन और नक्सलवाद–माओवाद के भरोसे सरकारी और गैर–सरकारी संगठित लूट से बचने का भरोसा। इस भरोसे में आदिवासियों का जीवन लगातार अधिक उलझता चला गया। माओवादी आंदोलन कालांतर में एक तरफ आदिवासियों को आगे बढ़ने से रोकने की वजह बन गया तो, दूसरी तरफ भ्रष्ट सरकारी व्यवस्था द्वारा आदिवासियों को सताने का एक बहाना भी बन गया। आदिवासी दोनों तरफ से मारे जाने लगे।

जबकि आदिवासी मानव सभ्यता और संस्कृति के जनक हैं। उनके महत्व को और उनकी सांस्कृतिक स्थिति को झुठलाने का अर्थ है मानव संस्कृतिको झुठलाना। सृष्टि की उत्पत्ति को लेकर आदिवासी मिथकों में आधारभूत तत्त्वों का जिक्र मिलता है। सृष्टि से पहले की अवस्था के बारे में पूर्वोत्तर भारत के आदिवासियों की मान्यता रही है कि पृथ्वी पर सर्वत्र जल ही जल था। सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में कमोबेश सभी आदिवासी समुदायों में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जल की महिमा बताई गई है। हमारा विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि प्रमुख तत्त्व जल ही है। आदिवासी समाजों में जल के साथ जंगल और जमीन को उच्च स्थान दिया गया है। जंगल से तात्पर्य नदी, नाले, झील, सरोवर, पर्वत, वनस्पतियां, वन्यप्राणी सबसे है। आदिवासी मिथक–मान्यताएं हमें जीवन का यह सूत्र समझाने में सक्षम होती हैं कि जल और जंगल के बिना पृथ्वी सुरक्षित नहीं है।

भगवान शिव के प्रति भारत के करीब सभी आदिम समुदायों की आस्था रही है। इसका कारण है कि शिव आदिदेव हैं, जिनकी जीवन शैली में आदिम लक्षण पाए जाते हैं। वे वन–पर्वतों में वास करते हैं। भौतिक सुख–सुविधाओं को नकारते हैं। मानवेतर प्राणिजगत के साथ उनके आत्मीय संबंध हैं। इसी तरह गोंड आदिम समुदाय 'बड़ादेव' को सर्वोच्च स्थान देता है, जिसने सृष्टि की रचना की। यह अन्य कोई न होकर महादेव शिव ही हैं। इस रचना में सहयोगी के रूप में कौआ, केकड़ा, केंचुआ, मकड़ा जैसे जीवों और कई वृक्षों की भूमिका को अहम बताया गया है। इन मिथकों से मानवेतर प्राणिजगत और प्रकृति तत्त्वों के बीच के अपेक्षित संतुलन के दर्शन को सीखा जा सकता है।

निषाद, भील, सवर, सवरा, सओर, सहरा, सौंर और सहरियाओं में प्रचलित एक मिथक कथा के अनुसार सृष्टि के प्रारंभ में शिव ने धरती पर अन्न उपजाना चाहा। इसके लिए उन्होंने एक हल बनाया और अपने बैल नंदी को उसमें जोता, पर धरती पर घना जंगल था, इसलिए धरती जोती नहीं जा सकी और अन्न नहीं उपजा। फिर शिव ने मनुष्य की रचना की, जिसका नाम सवर रखा। यही मनुष्य

सवर, सवरा, सओर, सहरा, सौंर या सहरिया के नाम से जाना गया। शिव ने इस मनुष्य से जंगल साफ करवाया। इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि आदिम जीवन जब आखेट और वनोपज पर आश्रित था तब आखेट के स्थान पर वनोपज को प्राथमिकता दी गई। इसी तरह बैगा समुदाय अपने को मानव के आदिपुरखों के वंशज मानते हैं। ईश्वर ने बैगा आदि–मानव युग्म को वरदान दिया कि उसके वंशज पृथ्वी के भौमिया यानी मालिक होंगे, जो अपने वंश का लालन–पालन पृथ्वी से पैदा होने वाले कंद–मूल–फलों से करेंगे। आज भूमि के मालिक ही विस्थापित हैं और दर–दर की ठोकरें खाने को विवश हैं। राजस्थान में लोहार जाति घूमंतू जाति है और वह विस्थापन का जीवन जी रही है।

आज जब हम वैश्विक कॉरपोरेट पूंजी के वर्चस्व के युग में प्राकृतिक संसाधनों की चौतरफा लूट का नजारा देखते हैं, तो पृथ्वी के विनाश के संकेतों को समझना चाहिए और एक खतरनाक भविष्य से बचने के लिए आदिमता के जीवन सूत्रों से सीख लेनी चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श बाकी की बर्बादी का आकांक्षी या इतिहास के पन्नों से बदला लेने के सपनों का विमर्श नहीं है। यह संपूर्ण दुनिया को लोकतांत्रिक मानवीय मूल्यों के साथ और सारी प्रकृति को उसकी संपूर्ण सृजनात्मकता के साथ बचाने की एक वैचारिक जद्दोजहद है। यह हर आदिवासी मनुष्य के हर कदम में सार्थकता देखता है और प्रकृति के हर कण में जीवन तत्त्व खोजता है। इसीलिए यह विमर्श हर किसी के लिखे को महत्त्व देता है। उसे परखता है, उससे सहमत–असहमत होता है, मगर किसी मानवपक्ष को दुत्कारता नहीं है। ऐसे में यह जरूरी है कि आदिवासियों के संस्कृति और संस्कारों को सम्मानजनक और जिम्मेदार स्थान प्राप्त हो। आदिवासी कम बोलते हैं, अपना दर्द भी पूरा व्यक्त नहीं करते हैं, लेकिन उनके हालात की अभिव्यक्ति में आला दर्जे की वास्तविकता और भावपूर्णता देखने को मिलती है।

गुजरात के छोटा उदयपुर एवं वडोदरा जिले के आदिवासी

अंचल नसवाडी, रंगपुर, बोडेली, कवांट, बलद गांव आदि से मैं लम्बे समय से जुड़ा रहा हूं। रंगपुर में हरिभाई का आश्रम इस क्षेत्र के विकास का एक सशक्त माध्यम रहा है। एक तरह से हरिभाई 'भैयाजी' के बहुमुखी व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से अनेक राष्ट्रीय हस्तियां एवं राजनीतिज्ञ व्यक्तित्वों का इस क्षेत्र में आना जाना रहा। गुजरात की राजनीतिक बुनावट तो इसी आश्रम से तय होती रही है। इस आदिवासी क्षेत्र की समस्याओं के समाधान में यह आश्रम बहुत बड़ा आधार रहा है। साथ ही साथ इस क्षेत्र को परमार क्षत्रियोद्धारक आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरिजी म.सा. ने अपनी कर्मभूमि बनाकर यहां की जनता का उत्थान और उन्नयन किया। उन्होंने न केवल विकास की अनेक योजनाएं प्रारंभ की बल्कि इस क्षेत्र की जनता को आदर्श जीवनशैली भी प्रदत्त की। आज जबकि देश के अनेक हिस्सों में आदिवासी जन–जीवन हिंसा, अलगाव और आतंक का प्रतीक बना हुआ है और यह क्षेत्र भी इन सब स्थितियों से उपरत नहीं है। लेकिन आचार्यजी के प्रयासों से इस क्षेत्र के जन–जीवन में अहिंसा का प्रभावी प्रस्तुतिकरण हुआ है। जिससे यह क्षेत्र हिंसा से बचा रहा है। भैयाजी के निधन के बाद विगत लम्बे समय से अपने गुरु इन्द्रदिन्न सूरिजी द्वारा प्रारंभ किये गए उपक्रमों को मैं सुखी परिवार अभियान के माध्यम से आगे बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा हूं। इस क्षेत्र के समग्र विकास को मैंने अपने जीवन का ध्येय बना रखा है। इसकी एक सार्थक निष्पत्ति है–आधुनिक सर्वसुविधायुक्त एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय का निर्माण, जिसका शिलान्यास तत्कालीन मुख्यमंत्री लोकनायक श्री नरेन्द्र मोदी के करकमलों से हुआ। इसके अतिरिक्त कवांट तहसील के ग्रामों में निर्मल एवं पवित्र जल आपूर्ति, कवांट से जोड़ने वाला ब्रिज एवं एपीएमसी की बिल्डिंग के माध्यम से इस क्षेत्र में एक क्रांति घटित हुई है। इस क्षेत्र के लोगों का सौभाग्य ही माना जायेगा कि उन्हें राजनीति एवं धर्म की मिलीजुली शक्तियों का योग मिल रहा है।

यह जाहिर है कि संतों के चरण जहां पड़ते है, वहां मंगल ही मंगल है। इक्कीसवीं सदी का पहला और दूसरा दशक इस

आदिवासी क्षेत्र के विकास एवं उत्थान के लिये शुभ रहा है। इसी तरह का स्वस्थ एवं समतामूलक विकास आदिवासी या पिछड़े क्षेत्रों में होता रहा तो मेरा मानना है कि इस देश में आतंकवाद, नक्सलवाद, माओवाद जैसी समस्याएं सिर उठाने का नाम नहीं लगी। मेरी दृष्टि में सुखी परिवार अभियान ने सैकड़ों जीवन बचाने, हजारों बेघर लोगों का जीवन बेहतर बनाने, हजारों–हजारों आदिवासी बच्चों को शिक्षा प्रदान करने एवं आदिवासी कन्याओं को उच्चशिक्षा के लिये प्रोत्साहित करने के लिये सहायता के जो उपक्रम चलाये गये, परोपकार, सेवा एवं जनकल्याण के प्रेरक उदाहरण है। सबसे बड़ा काम मेरी दृष्टि में जो हुआ है वह है इस क्षेत्र के लोगों को नशामुक्त बनाना, आडम्बर एवं रूढ़िमुक्त बनाना एवं अहिंसा के मार्ग पर अग्रसर करना है। विशेषत युवाओं, महिलाओं, बच्चों एवं वृद्धों को ऐसी प्रगाढ़ता एवं भावनात्मक नजदीकी मिली तथा ऐसा स्नेह, आपसी सौहार्द एवं सुरक्षा प्राप्त हुई जो उनके जीवन से बहुत दूर जा चुके थे।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने आदिवासी समाज और संस्कृति को समग्र रूप से विवेचित करने का प्रयास किया है। इसमें आदिवासी के विविध रूपों को बहुत सुंदर रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। भारत की आदिवासी संस्कृति को एक नये स्वरूप एवं नये परिवेश में प्रस्तुत करने वाली यह कृति इस समृद्ध समुदाय को लेकर बनी या बनायी गयी भ्रांत धारणाओं का निष्पादन भी करती है। एक नयी दिशा देती है।

प्रस्तुत कृति आदिवासी समाज का तथ्यपूर्ण प्रतिनिधित्व करते हुए उनकी संस्कृति, भाषा, खान–पान, रहन–सहन, नृत्य, गीत–संगीत की यथार्थपरक प्रस्तुति करती हैं। वहीं इस समाज की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक महत्ता को भी स्पष्ट करती है। आदिवासी इतिहास का विस्तृत एवं मौलिक विश्लेषण प्रस्तुत करती है। आशा है यह पुस्तक आदिवासी समाज को एक नयी दिशा और नयी दृष्टि प्रदत्त करेगी।

–गणि राजेन्द्र विजय

संपादकीय

भारतीय संस्कृति में आदिवासी संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। आदिवासी सांस्कृतिक परम्परा पर विचार करने से पहले यह परिभाषित कर लेना उचित प्रतीत होता है कि आदिवासी संस्कृति क्या है? संस्कृति का सीधा–सादा अर्थ है परिष्कार या संस्कार। वस्तुतः परिमार्जित संस्कार ही संस्कृति है। संस्कृति भौतिक साधनों के संचयन के साथ ही अध्यात्मिकता की गरिमा से मंडित होती है। वेश–भूषा, परंपरा, पूजा–विधान और सामाजिक रीति–नीति की विवेचना भी संस्कृति के अंतर्गत होती है। प्रकृति की सीमाओं पर मनुष्य ने जो विजय चाही, उसका भौतिक स्वरूप सभ्यता और आत्मिक, आध्यात्मिक अथवा मानसिक स्वरूप संस्कृति है। सभ्यता बाह्य–प्रकृति पर हमारी विजय का गर्वध्वज है और संस्कृति अंतःप्रकृति पर विजय–प्राप्ति की सिद्धि है। आदिवासी संस्कृति और उनकी वर्तमान स्थितियों पर गहन चिंतन–मंथन करने वाले लोगों में एक नाम है– गणि राजेन्द्र विजय का। उन्होंने आदिवासी संस्कृति की समग्र विवेचना करते हुए एक पुस्तक लिखी है– 'आदिवासी सभ्यता एवं संस्कृति के सूत्र।' यह पुस्तक आदिवासी संस्कृति की समग्र विवेचना के साथ–साथ उनकी समस्याओं को भी उजागर करती हैं। आदिवासी जनजीवन

को राष्ट्रीय मूलधारा में जोड़ने और उसके समग्र विकास में उनके योगदान को महत्वपूर्ण मानते हुए यह पुस्तक विश्लेषण करती है। लेख का अनुभव है कि अब सुधार की नहीं, नव–निर्माण की जरूरत है। आदिवासी जनजीवन के मूल्य मानकों को बदलने की ही नहीं बल्कि नया युग लाने की जरूरत है और इस जरूरत को नये संदर्भ में व्यक्त करने के लिए उनकी प्रस्तुत पुस्तक सार्थक भूमिका प्रस्तुत करती है। यह पुस्तक आदिवासी संस्कृति का महिमामंडन ही नहीं करती बल्कि आदिवासी जनजीवन का प्रभावी प्रस्तुतीकरण करती है।

आदिवासी संस्कृति की ऐसी परिभाषाएँ अनेक विद्वानों ने उपलब्ध कराई हैं जिनमें उसके इस व उस पक्ष या कई पक्षों का समन्वय स्थापित करने की चेष्टाएँ झलकती हैं। किन्तु ऐसी परिभाषाएँ संस्कृति का खंडित अध्ययन करती हैं जबकि पिछले लंबे दौर में ज्ञान के विविध क्षेत्रों में कई नई परिभाषाएँ विकसित हुई हैं। आदिवासी संस्कृति की व्याख्या न तो केवल आनुवांशिक जैविकता के आधार पर की जा सकती है, न सिर्फ सामाजिकता के आधार पर। इसी तरह उसे सभ्यता के अलग–अलग खानों में बाँटकर भी नहीं समझा जा सकता। लेकिन प्रस्तुत कृति में लेखक ने आदिवासी संस्कृति को बहुत सरल एवं सहज तरीके से अभिव्यक्त करके जन–जन में व्याप्त अनेक शंकाओं को दूर करने का सार्थक प्रयत्न किया है। यह कृति न केवल आदिवासी संस्कृति को बल्कि उनकी समग्रता को प्रस्तुत करती है।

प्रस्तुत कृति में आदिवासी समाज की समस्याओं और उनके प्रति सरकारी उपेक्षाओं को भी प्रस्तुति देती है जबकि आदिवासी समाज सदियों से समतामूलक और लोकतांत्रिक रहा है। इसमें संसाधनों के असीमित अधिग्रहण या कहें कि लूट के बजाय इनके समान वितरण को तरजीह देने की संस्कृति रही है। गांव में कोई बच्चा अनाथ न हो और कोई भूखा न रहे, यह इसका पहला सामाजिक मूल्य माना जाता है। बेटा–बेटी को एक समान समझा और संपत्ति में इनको बराबरी का हिस्सा दिया जाता है। बेटियां अगर पिता का घर छोड़तीं, तो दहेज के साथ नहीं, बल्कि वर पक्ष

की ओर से दिए जाने वाले 'वधू संस्कार' के साथ जिसे मुख्यधारा के विद्वानों ने अपने नजरिए से समझ कर 'वधू मूल्य' करार दिया और जिसे मूल्य नहीं, कीमत के रूप में समझाया गया है– यह समझे बगैर कि जो समाज फल–सब्जियों की कीमत नहीं लगाता, वह बेटी की कीमत कैसे लगा सकता है। प्रकृति यानी जल, जंगल, जमीन, जानवर, पहाड़ के साथ आदिवासी का व्यवहार मानवीय होता है। इसमें वे अपने पूर्वजों की आत्माओं का वास देखते हैं और इस नाते वे प्रकृति को पूजते हैं। उनके इस मानवीय संस्कार को कई प्रगतिशील बुद्धिजीवियों ने अंधविश्वास कहा और तथाकथित अलगाववादी संगठनों ने आदिवासियों को बंदूक की नोक पर इन सांस्कृतिक मूल्यों से दूर किया। प्रकृति के प्रति यह निर्भरता उनके धर्म के रूप में सामने आती है। इस धर्म में पूरे ब्रह्मांड के प्रकृति तत्त्व शामिल हैं।

यही वजह है कि बिरसा मुंडा आदि के प्रसिद्ध विद्रोहों में ब्रिटिश नीतियों, महाजनों द्वारा जमीन और फसलों की लूट के साथ–साथ प्रकृति से जुड़े सांस्कृतिक मूल्यों के अपमान के प्रति विरोध के स्वर भी देखने को मिलते हैं। गणि राजेन्द्र विजयजी ने गुजरात के आदिवासी समाज के अस्तित्व और अस्मिता को बचाने के लिए और उन्हें उनके अस्तित्व का भान कराने के लिए अनेक उपक्रम भी किये हैं। उन्होंने इसके लिए सुखी परिवार अभियान संचालित किया है। आदिवासी जनजीवन के लिए सेवा, शिक्षा, जनकल्याण की विशिष्ट योजनाएं सुखी परिवार अभियान के द्वारा लम्बे समय से संचालित की जा रही है। मेरी दृष्टि में आदिवासी अंचल में एक रोशनी का अवतरण हुआ है, यह ऐसी रोशनी है जो हिंसा, आतंकवाद, नक्सलवाद, माओवाद जैसी समस्याओं का समाधान बन रही है। अक्सर हम राजनीति के माध्यम से इन समस्याओं का समाधान खोजते है, जबकि समाधान की अपेक्षा संकट गहराता हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि राजनीतिक स्वार्थों के कारण इन उपेक्षित एवं अभावग्रस्त लोगों का शोषण ही होते हुए देखा गया है।

गणि राजेन्द्र विजयजी म.सा. के नेतृत्व में आदिवासी समाज

कृतसंकल्प है रोशनी के साथ चलते हुए इस आदिवासी इंद्रांचल के जीवन को उन्नत बनाने एवं संपूर्ण मानवता को अभिप्रेरित करने के लिये। सुखी परिवार अभियान के इतिहास का एक दुर्लभ और हीरक पृष्ठ है एकलव्य आवासीय मॉडल विद्यालय। ग्रामीण और आदिवासी जनजीवन को उन्नत बनाने और उनके विकास के लिए ब्राह्मीसुन्दरी कन्या छात्रावास एवं सुखी परिवार (गौशाला) जीवदया संघ आदि अनेक योजनाएं चल रही हैं। एकलव्य आवासीय मॉडल विद्यालय के रूप में जो एक नया इतिहास बना है उसकी विशेषता यह है कि यह जहां जमीन से जुड़े लोगों के सहयोग और सेवा का एक प्रकल्प है और इसे माननीय नरेन्द्र मोदीजी जैसे अनेक विशेषताओं वाले, दूरगामी सोच वाले, महान राजनीतिज्ञ, सफल प्रशासक और विज़नरी व्यक्तित्व का मार्गदर्शन, सहयोग और प्रेरणा प्राप्त हो रहा है। इसका शिलान्यास भी मोदीजी ने ही 11 मार्च 2007 को किया था।

गणिवर्य राजेन्द्र विजयजी के आध्यात्मिक आभामंडल एवं कठोर तपचर्या का ही परिणाम है– यह एकलव्य आवासीय मॉडल विद्यालय। सभी आध्यात्मिक महापुरुषों के आशीर्वाद से एवं देश के शीर्षस्थ नेतृत्व की शुभकामनाओं से एक अभिनव परियोजना इस आदिवासी अंचल में आकार ले सकी है, जो आने वाले समय में एक बहुत बड़े सेवा, शिक्षा, साधना, संस्कार निर्माण और जनकल्याण के प्रकल्प का रूप लेने वाली है। एकलव्य आवासीय मॉडल विद्यालय विशेषतया ग्रामीण जनजीवन के उन्नयन और उत्थान के साथ शिक्षा का एक प्रकल्प है। बिना किसी जाति, वर्ग, वर्ण के भेद के सुखी परिवार अभियान आम जनजीवन से जुड़ेगा। इसका मुख्य लक्ष्य है शिक्षा और सेवा। जरूरतमंदों की जरूरतों को पूरा करना है। इस क्षेत्र की एक बहुत बड़ी कमी शिक्षा को समृद्ध बनाना है। हमारी शिक्षा का मूल लक्ष्य संस्कृति और संस्कारों को बल देना भी है।

गुजरात के आदिवासी अंचल की संस्कृति को जीवंत करने और उससे समग्रता से प्रस्तुति देने के लिए गणि राजेन्द्र विजयजी अनेक उपक्रम करते रहते हैं। उन्हीं में एक ज्ञान ज्योति अभ्युदय

यात्रा भी रहा है। यह यात्रा भी शिक्षा के उद्देश्य को लेकर आयोजित हुई, साथ ही साथ आदिवासी लोगों को रूढ़िमुक्त बनाना एवं उनमें आपसी सौहार्द एवं सह–अस्तित्व की भावना का विकास करना है।

आदिवासी अहिंसक समाज निर्माण की आधारभूमि तैयार करने के लिए भी गणिजी निरंतर प्रयासरत हैं। हाल ही में उन्होंने सबसे बड़े अलगाववादी भिलिस्तान आंदोलन को भी समाप्त करके उन लोगों की शक्ति को भी आदिवासी समाज के विकास में नियोजित किया है। गणिजी ने अपने आध्यात्मिक तेज से अक्सर होने वाले दो गुटों के खूनी संघर्ष को न केवल शांत किया, बल्कि दोनों गुटों को एक मंच पर ले आये। वे अक्सर आक्रामक एवं हिंसक स्थितियों से भी जूझते रहे हैं और उनका मानना है कि ये स्थितियां ही वास्तविक चुनौती है और हम इससे डर कर पलायन करेंगे तो कौन इन लोगों को मार्ग दिखायेगा? अहिंसा की बात कैसे साकार होगी? कैसे लोगों के दिलों में घर कर गयी नफरत एवं घृणा दूर होगी? अविवेक एवं नासमझी की स्थितियों में कब तक लहू बहता रहेगा? अपने संकल्प पर दृढ़ होकर गणिजी इस हिंसा एवं तनावभरी स्थितियों के बीच शांति और अहिंसा की स्थापना करते रहे हैं। ऐसे उपक्रमों एवं घटनाओं के साक्षी रहे गणिजी की कलम से आदिवासी जनजीवन और संस्कृति पर लिखी गयी यह पुस्तक न केवल पठनीय है बल्कि मननीय भी है। क्योंकि अहिंसा केवल उपदेश नहीं व्यवहार में चरितार्थ होते हुए देखी गयी। सचमुच आदिवासी लोगों को प्यार, करूणा, स्नेह एवं संबल की जरूरत है जो गणिजी जैसे संत एवं सुखी परिवार अभियान जैसे मानव कल्याणकारी उपक्रम से ही संभव है, सचमुच एक रोशनी का अवतरण हो रहा है, जो अन्य हिंसाग्रस्त क्षेत्रों के लिये भी अनुकरणीय है।

गणि राजेन्द्र विजयजी की विशेषता तो यही है कि उन्होंने आदिवासी उत्थान को अपने जीवन का संकल्प और तड़प बना लिया है। आदिवासी जन–जीवन में भी बहुत उजाले हैं,लेकिन इन उजालों को छीनने के प्रयास हुए है, हो रहे हैं और होते रहेंगे।

आज बाहरी खतरों से ज्यादा भीतरी खतरे हैं। हिंसा और अलगाव की कई चुनौतियां हैं, जो समाधान चाहती है। पर गलत प्रश्न पर कभी भी सही उत्तर नहीं मिला करते। जब रोटी की जरूरत हो तो रोटी ही समाधान बनती है। रोटी के बिना आप किसी सिद्धान्त को ताकत का इंजेक्शन नहीं बना सकते।

सुखी परिवार अभियान का उद्घोष दिया गया है– आपकी खुशी, हमारी खुशी, आपका सुख, हमारा सुख। पूज्य आचार्य विजय वल्लभजी महाराज एवं गुरु इन्द्र ने परिवार को सुखी और आदर्श बनाने के लिए व्यापक प्रयत्न किए। विशेषतः इसी इंद्रांचल की आदिवासी जनता के उत्थान की दृष्टि से गुरु इंद्र ने व्यापक प्रयत्न किए, उन्हीं प्रयत्नों को गणि राजेन्द्र विजयजी आगे बढ़ा रहे है।

गणि राजेंद्र विजय की प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा आदिवासी समाज के हाथ में एक ऐसी रोशनी थमाई गई हैं जिससे न केवल उनका सामाजिक जीवन चमत्कृत होगा बल्कि वे राष्ट्र के विकास में भी अग्रसर हो सकेंगे। इस पुस्तक के माध्यम से उन्होंने समाज की ओर जन–जन का ध्यान आकृष्ट किया है। यह पुस्तक आदिवासी परम्पराओं में आई जड़ता को तोड़कर उनमें नवप्राण फूंकने का कार्य करेगी। इस पुस्तक से प्रेरणा लेकर आदिवासी समाज आडम्बर, रूढ़ि एवं जड़तामुक्त जीवन लेने की प्रेरणा ले सकेगा तथा नये समाज की संरचना हो सकेगी, ऐसा विश्वास है। बेकन की प्रसिद्ध उक्ति है– ''कुछ पुस्तकें चखने की होती है, कुछ निगलने की तथा कुछ चबाने की एवं पचा जाने की।'' गणि राजेन्द्र विजय की यह पुस्तक चखने योग्य, निगलने योग्य एवं चबाकर पचाने योग्य है। ऐसा कथन अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा।

पाठकों से अनुरोध है कि वे इस पुस्तक को पढ़े, उन्हें अवश्य ही आदिवासी संस्कृति की यथार्थपरक झलक मिलेगी, एक नई दृष्टि प्राप्त होगी। यह पुस्तक शोधार्थियों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।

–ललित गर्ग

लेखक परिचय

भारत की संत परंपरा में गणि राजेन्द्र विजय का एक विशिष्ट स्थान है। भगवान महावीर के सिद्धांतों को जीवन दर्शन की भूमिका पर जीने वाले इस संत चेतना ने संपूर्ण मानवजाति के परमार्थ में स्वयं को समर्पित कर समय, शक्ति, श्रम और सोच को एक सार्थक पहचान दी है। संप्रदाय विशेष से बंधकर भी आपके निर्बंध कर्तृत्व ने राष्ट्रीय एकता, सदभावना एवं परोपकार की दिशा में संपूर्ण राष्ट्र को सही दिशाबोध दिया है। आप आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वर प्रसिद्ध नाम श्री आत्मारामजी की पाट परंपरा के परमार क्षत्रियोद्धारक, कलिकाल चिंतामणी, गच्छाधिपति श्री विजय इन्द्रदिन्न सूरीश्वरजी महाराज के शिष्य हैं एवं अपने गुरु एवं गच्छ के प्रति सर्वात्मना समर्पित एवं सक्रिय हैं। आपका संपूर्ण जीवन त्याग और तपस्या से ओत–प्रोत है।

आपका जन्म गुजरात के बड़ौदा जिले के बलद गांव में सुश्रावक श्री गंभीरसिंहजी जैन की धर्मपत्नी सुश्राविका श्रीमती अमितादेवी जैन की कुक्षि से 19 मई, 1974 को हुआ। ग्यारह वर्ष की अल्प आयु में आपने साधनामय जीवन की ओर अपने

चरण अग्रसर किए एवं एक वर्ष तक गुरु सन्निधि में गहन तप और ज्ञान गंगा में निमज्जन करके बारह वर्ष की आयु में सन् 1986 की अक्षय तृतीया के शुभ दिन अकोला (महाराष्ट्र) में संयम जीवन अंगीकार किया। तभी से गुजराती, हिन्दी, संस्कृत, पंजाबी, प्राकृत आदि भाषा के ज्ञान के साथ जिन–धर्म, दर्शन, साध्वाचार, तत्वार्थ, आगम आदि ग्रंथों का अपने गुरु की निश्रा में 17 वर्ष तक अध्ययन किया।

गणि राजेन्द्र विजय की निष्ठा अहिंसा में है। अपनी निष्ठा के अनुरूप जीवन जीने के लिए उन्होंने अहिंसा का महाव्रत स्वीकार किया और उन्होंने मुनि जीवन को अंगीकार किया। अहिंसा को व्यावहारिक रूप देने के लिए उन्होंने अहिंसा का प्रशिक्षण अपने गुरु आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरीश्वरजी से प्राप्त किया। अहिंसा की महत्ता को उजागर करने के लिए उन्होंने अहिंसा पर प्रवचन किए, लेख लिखे, गांव–गांव की यात्रा की, हिंसा प्रभावित आदिवासी क्षेत्रों में सघन उपक्रम किए। सुखी परिवार अभियान की उनकी परिकल्पना अहिंसा को लोकजीवन में प्रतिष्ठित करने और अहिंसक शक्ति को जागृत करने के उद्देश्य से ही हुई थी। देश के प्रबुद्ध चिंतकों, राजनेताओं, अहिंसाकर्मियों से विचार–विमर्श करते समय भी उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि अहिंसा को जीवन के साथ जोड़ा जाना चाहिए।

गणि राजेन्द्र विजय अहिंसा के आस–पास जीते है। वे मानते हैं कि अहिंसा में सौदा नहीं होता। तुम इतना करो तो मैं इतना करूं, यह स्वार्थ है। जबकि अहिंसा स्वार्थ नहीं, परार्थ और परोपकार है। अहिंसा के बारे में उनके वचनों और आलेखों की विशेषता है कि वे इतने समग्र हैं कि एक ही विषय पर ही इतना विशद विवेचन और इतना बहुआयामी विश्लेषण कहीं अन्यत्र नहीं मिलेंगे। अहिंसा को परिभाषित, व्याख्यायित और विश्लेषित करने वाले उनके वे अनुभव प्रवण विचार प्रस्तुत कृति में सहेजे गए हैं।

गणि राजेन्द्र विजय ने जैन धर्म और अहिंसा का प्रचार–प्रसार उन आदिवासी क्षेत्रों में व्यापकता से किया है जो जैनेत्तर क्षेत्र कहे जाते हैं और जिनमें हिंसा की बहुलता है। गुजरात के बड़ोदरा

जिले के आदिवासी अंचल के लोगों में उनके विचारों और अहिंसक कार्यक्रमों का इतना व्यापक प्रभाव स्थापित हुआ है कि लाखों की संख्या में लोगों ने न केवल हिंसा को छोड़ा है बल्कि अपनी जीवन शैली को अहिंसा के अनुरूप ढाला है।

गणि राजेन्द्र विजय ओजस्वी वक्ता हैं। जब वे बोलते हैं तो हजारों नर–नारियों की भीड़ उन्हें मंत्र–मुग्ध होकर सुनती है। अपने प्रवचनों में वे धर्म के गूढ़ तत्वों की ही चर्चा नहीं करते, उन्हें इतना बोधगम्य बना देते हैं कि उनकी बात सहज ही सामान्य–से–सामान्य व्यक्ति के गले उतर जाती है।

गणि राजेन्द्र विजय जितने प्रभावशाली वक्ता हैं, उतने ही प्रभावशाली लेखक भी हैं। हाल ही में प्रकाशित आपकी पुस्तकें– सुखी परिवार के सूत्र, मंत्र विद्या के सफल प्रयोग एवं सभ्यता की सुबह की लोकप्रियता आपके उत्कृष्ट लेखन का एक उदाहरण है। श्री विजय इन्द्र टाइम्स, समृद्ध सुखी परिवार में प्रकाशित आपके विचारोत्तेजक एवं हृदयस्पर्शी लेख जहां राष्ट्रीय समस्याओं की गहन विवेचना करते हैं वहीं आध्यात्मिक गहराइयों में गौता लगवाते हैं। उनका जीवन लोक–मंगल के लिए समर्पित है। इसलिए उनका लेखन भी एक ऊंचे ध्येय से प्रेरित है। आप परोपकार एवं परमार्थ के प्रेरक व्यक्तित्व हैं। श्रेष्ठ शिष्य वही होता है, जो अपने गुरु के पावन सान्निध्य में आयोजित प्रत्येक कार्य में दक्षतापूर्वक योगदान दें। आपने गुरुदेव की निश्रा में आयोजित अनेकों लोकोपकारी कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की। पिछड़े वर्ग के नैतिक उत्थान हेतु शिक्षा के क्षेत्र में दस्तक दी। प्रवचन के माध्यम से संस्कार निर्माण का कार्य किया। निम्न वर्ग के आर्थिक उन्नयन हेतु लोगों को स्वधर्मी भक्ति के लिए प्रेरित किया।

आद्य संस्कृति को सुरक्षित रखने में स्थान–स्थान पर प्रवचन, धर्म–सभा, संगोष्ठी का आयोजन किया। पूज्य गुरुदेव की निश्रा में सेवा, संगठन, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि को जीवन का ध्येय मानकर अनेक रचनात्मक कार्यों में लग्न, निष्ठा के साथ पूर्ण सहयोग दे रहे हैं, कर्त्तव्य पथ से कभी विमुख नहीं हुए। पंजाब केसरी, कलिकाल कल्पतरु श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वर जी म.सा. के आदर्शों पर

चलते हुए आप आजीवन खादी धारण करने के लिए संकल्पबद्ध हैं। महापुरुषों की पुण्य तिथियों पर आयोजित रक्तदान शिविर में जहां स्वयं रक्त दान किया तथा औरों को प्रेरणा प्रदान करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त इस दिन जन–सेवा, जीव–दया आदि के द्वारा असहाय, मूक प्राणियों की सेवा के लिए संघ एवं समाज को जागृत करते रहे हैं।

स्वस्थ एवं नैतिक लेखन को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से आपने श्री विजय इन्द्र टाइम्स मासिक पत्रिका प्रारंभ की, जो आज स्वस्थ समाज संरचना का प्रेरक बनकर धर्म, संस्कृति, शिक्षा एवं नैतिक विचार का संवाहक बन रही है। आपकी यह उदग्र अभीप्सा है कि भारत फिर एक बार विश्व गुरु के रूप में प्रतिष्ठित हो।

मनुष्य अच्छा मनुष्य बने, उसके अंदर मानवीय गुणों का विकास हो, वह नैतिक और चारित्रिक दृष्टि से उन्नत बने, अपने कर्त्तव्य को वह जाने और निष्ठापूर्वक उसका पालन करे, समष्टि के हित में वह अपना हित अनुभव करे इस दृष्टि से गणि राजेन्द्र विजय ने 'सुखी परिवार अभियान' के रूप में एक समग्र आदर्श परिवार की परिकल्पना प्रस्तुत की है। यह व्यक्ति और परिवार से स्वस्थ समाज और स्वस्थ समाज से स्वस्थ राष्ट्र की आधार भूमि है। सुखी परिवार अभियान आज राष्ट्रीय स्तर पर अहिंसा, नैतिकता, सदाचार और स्वस्थ मूल्यों की स्थापना का एक अभिनव उपक्रम बनकर प्रस्तुत है। इसके माध्यम से जहां वैचारिक स्तर पर सकारात्मक वातावरण का निर्माण किया गया है वहीं सेवा, चिकित्सा, शिक्षा, जीवदया और जनकल्याण के अनेक उपक्रम संचालित किए जा रहे हैं। विशेषतः गुजरात के आदिवासी अंचल में शिक्षा और चिकित्सा के कार्यक्रम संचालित हो रहे हैं। वहीं पर बोडेली ग्राम में बालिका शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए 'ब्रह्म सुन्दरी कन्या छात्रावास' का संचालन किया जा रहा है, बलद गांव में सुखी परिवार जीवदया गौशाला एवं कवांट में एकलव्य मॉडल आवासीय स्कूल का निर्माण कार्य चल रहा है। सुखी परिवार अभियान द्वारा वे एक ऐसे समाज का स्वप्न देखते हैं जहां हिंसा व संग्रह न हो, अशिक्षा और आडम्बर न हो। न कानून हो न कोई दंड देने वाला सत्ताधीश हो। न कोई

अमीर हो, न कोई गरीब। एक का जातिगत अहं और दूसरे की हीनता समाज में वैषम्य पैदा करती है। अतः सुखी परिवार अभियान प्रेरित समाज समान धरातल पर विकसित होगा। इसके लिए वे अनुशासन और संयम की शक्ति को अनिवार्य मानते हैं।

समग्र मानव समाज के लिए गहन एवं हितावह चिंतन करने वाले युगद्रष्टा गणि राजेन्द्र विजय ने अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व और जन हितकारी उपक्रमों द्वारा जिस शोषणविहीन एवं सुख समृद्धि से परिपूर्ण सुखी परिवार समाज की कल्पना की है। उस कल्पना की पूर्ति सभी समस्याओं का निदान बनेगी ऐसा विश्वास है। ●

अनुक्रम

1. आदिवासी समाज का इतिहास 33
2. आदिवासी संस्कृति 49
3. आदिवासी जीवनशैली 65
4. आदिवासी समाज की समस्याएं 76
5. आदिवासी विकास और प्रतिरोध 84
6. आदिवासी समाज और शिक्षा 96
7. आदिवासी महानायक 108

अनुक्रम

8. आदिवासी महिला 116
9. आदिवासी और पर्यावरण 124
10. आदिवासी और राजनीति 131
11. गुजरात का आदिवासी समाज 139
12. आदिवासी समाज और सुखी परिवार 145
13. पिथौरा कला अमूल्य धरोहर है 153

1

आदिवासी समाज का इतिहास

आदिवासियों को आमतौर पर भारत मे जनजातीय लोगों के रूप मे जाना जाता है। आदिवासी मुख्य रूप से भारतीय राज्यों उड़ीसा, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, बिहार, झारखंड, पश्चिम बंगाल मे अल्पसंख्यक है जबकि भारतीय पूर्वोत्तर राज्यों में यह बहुसंख्यक हैं, जैसे मिजोरम। संविधान में आदिवासियों के लिए अनुसूचित जनजाति पद का उपयोग किया गया है। भारत सरकार ने इन्हें भारत के संविधान की पांचवी अनुसूची में अनुसूचित जनजातियों के रूप में मान्यता दी है। भारत में आदिवासियों को दो वर्गों में अधिसूचित किया गया है– अनुसूचित जनजाति और अनुसूचित आदिम जनजाति। भारत के प्रमुख आदिवासी समुदायों में संथाल, गोंड, मुंडा, खड़िया, हो, बोडो, भील, खासी, सहरिया, गरासिया, भील्ला, राठवा, वसवा, मीणा, उरांव, बिरहोर आदि हैं।

भारत की जनसंख्या का 8.6 प्रतिशत (10 करोड़) जितना एक बड़ा हिस्सा आदिवासियों का है। पुरातन लेखों मे आदिवासियों को अत्विका और वनवासी भी कहा गया है (संस्कृत ग्रंथों में)।

महात्मा गांधी ने आदिवासियों को गिरिजन (पहाड़ पर रहने वाले लोग) कह कर पुकारा है। जिस पर वामपंथी विचारकों ने सवाल

उठाया है कि क्या मैदान में रहने वालों को मैदानी कहा जाता है? आदिवासी को दक्षिणपंथी लोग वनवासी या जंगली कहकर पुकारते हैं। इस तरह के नामों के पीछे बुनियादी रूप से यह धारणा काम कर रही होती है कि आदिवासी देश के मूल निवासी हैं या नहीं तथा आर्य यहीं के मूल निवासी हैं या बाहर से आए हैं? जबकि निश्चित रूप से आदिवासी ही भारत के मूलनिवासी हैं।

आदिवासियों का अपना धर्म है। ये प्रकृति पूजक हैं और जंगल, पहाड़, नदियों एवं सूर्य की आराधना करते हैं। आधुनिक काल में जबरन बाह्य संपर्क में आने के फलस्वरूप इन्होंने हिंदू, ईसाई एवं इस्लाम धर्म को भी अपनाया है। अंग्रेजी राज के दौरान बड़ी संख्या में ये ईसाई बने तो आजादी के बाद इनके हिंदूकरण का प्रयास तेजी से हुआ है। परंतु आज ये स्वयं की धार्मिक पहचान के लिए संगठित हो रहे हैं और भारत सरकार से जनगणना में अपने लिए अलग से धार्मिक कोड की मांग कर रहे हैं।

माना जाता है कि हिंदुओं के देव भगवान शिव भी मूल रूप से एक आदिवासी देवता थे लेकिन आर्यों ने भी उन्हें देवता के रूप मे स्वीकार कर लिया। रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि भी एक कोली आदिवासी थे।

आदिवासियों के बारे में जो भी अध्ययन सामने आए हैं उनमें अधिकतर की पृष्ठभूमि में या तो आदिवासी को 'जंगली–बर्बर' चित्रित करने का दृष्टिकोण रहा है या 'रोमांटिक' किस्म का, जिसके तहत यह कहा जाता रहा है कि 'आदिवासी समृद्ध प्रकृति की गोद में मस्ती से नाचता–गाता रहता है।' इस समाज को गहराई से समझने का प्रयास कम ही हुआ है।

दलित नेतृत्व का श्रेय बाबा साहेब आंबेडकर की वैचारिक चेतना को दिया जा सकता है, जिसमें संविधान द्वारा प्रदत्त राजनीतिक आरक्षण ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अन्य पिछड़ा वर्ग और अल्पसंख्यकों के लोकतांत्रिक नेतृत्व के उभार में खुद का बलबूता या फिर एक हद तक तुष्टीकरण की नीति को कारण माना जा सकता है। पर सवाल है कि अब तक आदिवासी लोकतांत्रिक नेतृत्व अन्य वर्गों की तरह अपेक्षित उभार क्यों नहीं ले सका?

भारतीय संविधान में आदिवासियों के लिए भी राजनीतिक आरक्षण की व्यवस्था रखी गई है, जिसमें संविधान निर्मात्री सभा में आदिवासी सदस्य जयपालसिंह मुंडा का मूल्यवान योगदान रहा। इसके बावजूद राष्ट्रीय फलक पर किसी आदिवासी राजनीतिक नायक का उभर कर सामने नहीं आना चौंकाता है। यों कई आदिवासी राजनेताओं के नाम गिनाए जा सकते हैं, लेकिन उनमें से कोई भी राष्ट्रीय स्तर का नहीं बन सका। पी. ए. संगमा चाहे केंद्र में केबिनेट मंत्री और बाद में लोकसभा के अध्यक्ष तक बन गए, मगर अंततः वे पूर्वोत्तर तक ही सिमट कर रह गए। यही हाल शिबू सोरेन का हुआ, जिन्होंने झारखंड राज्य के लिए संघर्ष किया, पर वे राष्ट्रीय स्तर पर आदिवासियों का नेतृत्व नहीं कर सके। राजनीतिक–नेतृत्व और सत्ता के विरुद्ध संघर्ष का लंबा इतिहास होने के बावजूद यह दशा क्यों है?

भौगोलिक दृष्टि से आदिवासी समुदायों का बिखराव का बड़ा कारण है जिसने उन्हें एकजुट होने में बाधा पहुंचाई। दूसरा बड़ा कारण है मुख्य भारतीय समाज से अलगाव। अन्य कारणों में पिछड़ापन हो सकता है, जिसकी वजह से ये आदिम समुदाय शिक्षा और अन्य भौतिक सुविधाओं से वंचित रहे, जिसके चलते उनका मुख्यधारा से अपेक्षित जुड़ाव संभव नहीं हो सका।

आंचलिक स्वायत्तता के मोहवश बाहरी दुनिया से संपर्क न रखना, अपने में खुलापन के बाद भी 'बंद समाज' की तरह जीते चले जाना, गैर–आदिवासी लोगों की राजनीतिक रणनीति को सीखने में धीमी गति से चलना आदि की दशा सोचननीय बना दी। इस समाज को 'अपने हर हाल में संतोषी' सी मानसिकता बना दी, जिसके चलते निजी संपत्ति की अवधारणा का विकास न हो पाना, पेट भरने के आगे और कुछ नहीं सोच पाना, अकूत प्राकृतिक संपदा का उपयोग–उपभोग भौतिक संपन्नता के उद्देश्य से न कर सकना, संघर्ष की परंपरा के बाद भी बहुमुखी शोषण को सहते जाना आदि मुख्य कारण रहा है।

जब हम दलितों से आदिवासियों के राजनीतिक नेतृत्व की तुलना करते हैं, तो स्पष्ट दिखाई देता है कि दलितों में मसीहा

के रूप में बाबा साहेब आंबेडकर मौजूद हैं, जो संपूर्ण राष्ट्र के दलित समाज के वैचारिक महानायक हैं, जिनसे दलित समाज निरंतर प्रेरणा लेता रहता है। आदिवासीजन के साथ स्थिति भिन्न है। यहां कोई प्रेरणादायक विभूति नहीं है। जो भी ऐतिहासिक या लोकतांत्रिक नायक उभरे, उनमें से कोई अपने अंचल की सीमाओं को पार नहीं कर सका।

आंबेडकर ने कहा था कि ''सत्ता वह मास्टर चाबी है, जिससे किसी भी ताले को खोला और बंद किया जा सकता है।'' दलित राजनीति ने भारतीय लोकतंत्र में आवश्यक हस्तक्षेप किया है। मगर आदिवासी की राजनीतिक लड़ाई कोई दूसरा लड़ने का दावा कर रहा है, चाहे वह एनजीओ हो, धर्मांतरणकारी या नक्सलवाद के नाम पर हिंसक तत्त्व। यही वजह है कि संविधान में प्रभावी प्रावधान और सरकारी बजटों में पर्याप्त धनराशि होने के बाद भी आदिवासी समाज विकास की धारा से अब तक नहीं जुड़ पाया है।

भारतीय संस्कृति और सभ्यता के सब ओर आदिवासी परंपरायें और प्रथायें छाईं हुईं हैं फिर भी इस तथ्य की जानकारी आम लोगों में नहीं है। भारतीय दर्शनशास्त्र, भाषा, एवं रीतिरिवाज में आदिवासियों के योगदान के फैलाव और महत्व को अक्सर इतिहासकार और समाजशास्त्रियों के द्वारा कम करके आंका और भुला दिया जाता है।

भारत के प्राचीन आदिवासी समुदायों को गौतमबुद्ध बतौर नमूने समाज के सामने पेश करते हुए, उनकी पक्षधरता रखते थे। निजी संपत्ति की लालसा, गरीबी, सामाजिक शोषण और अंतहीन युद्धों के कारणों से दुखी हो, गौतम बुद्ध ने आदिवासी गणतंत्रों में समाज के लिए आशा देखी जो अभी तक जाति–भेदभाव और बलशाली कानून के प्रभाव में नहीं आये थे। प्रारंभ के बौद्ध संघ भी, आदिवासी सामाजिक पारस्परिकता के नमूने थे। वे लेंगिक समानता और सभी के लिए आदर पर जोर देते थे। बौद्ध संघ के लोग भी अपने समानता के दृष्टिकोण और प्रजातंत्रात्मक कार्य प्रणाली के लिए प्रचार–प्रसार करते थे।

आदिवासी समाज का गठन जीव के सभी रूपों, पौधों तथा वृक्षों

के लिए आदर और समानता के आधार पर होता था। उनमें मानव समाज एवं प्रकृति की पारस्परिकता की गहरी समझ थी। विशेष कार्यक्रमों में सामाजिक जरूरतों के योगदान के अनुसार लोगों को सम्मान और पद दिया जाता था। धार्मिक अनुष्ठान में गुरू या वैद्यराज को बहुत आदर दिया जाता था परंतु जैसे ही यह कार्य संपन्न हुआ कि वह धर्मगुरू या वैद्य हर एक के लिए सामान्य हो जाता था। उच्च कौशल या ज्ञान, उंचे पद को प्राप्त नहीं कर पाता था। इसका अर्थ है कि कोई व्यक्ति या छोटा–समूह किसी प्रकार की प्रभुसत्ता या वंशानुगत स्वामित्व को हासिल नहीं कर पाता था।

यह मूल्य–पद्धति उस समय तक बनी रही जब तक कि आदिवासी समुदाय धन–अलोलुपी रहा और समुदाय के समस्त उत्पादनों का आपस में हिस्सा–बांट होता रहा। श्रम का विभाजन था। सामाजिक कार्य बिना किसी भेदभाव या पक्षपात के सहकारिता और सहसमानता के आधार पर किया जाता था। गौतमबुद्ध को सहजता, प्रकृति–प्रेम और वस्तुओं या धन के प्रति अलोलुपता तथा सामुदायिक जाति समन्वय ने आकर्षित किया और इन्हीं सबने उनकी शिक्षाओं पर बड़ा प्रभाव डाला।

व्यापार के मामले में, आदिवासियों ने उच्चकोटि के सम्मान का तरीका अपनाया। सभी समझौतों का वे सम्मान करते थे। जाति के एक व्यक्ति के द्वारा भी किए गए अनुबंध का सम्मान संपूर्ण जाति के लोग करते थे। बेईमान या धोखेबाज व्यक्ति को जनजाति द्वारा गंभीर सजा दी जाती थी। जनजाति के सम्मान के उल्लंघन की दशा में व्यक्ति को निर्वासन भुगतना पड़ता और उसके परिवार के सदस्यों को सजा के दौरान सामुदायिक कार्यकलापों में भाग लेने के अधिकार से वंचित होना पड़ता था। परंतु प्रायः जनजाति की सत्यनिष्ठा को क्षति पहुंचाई जाती थी। आदिवासियों से व्यापार करने वाले गैर–आदिवासी उनके वादों से विश्वासघात करते और जनजाति के अधिकांश लोगों की ईमानदारी एवं सच्चाई का अनुचित लाभ उठाते थे।

वाणिज्य के फैलाव, उनकी भूमि पर सेनाओं के आने जाने और उनके बीच ब्राह्मणों के पुनर्वास ने दवाब डाला। जनजाति के

प्रमुख सदस्यों को हिंदू समाज की मुख्य धारा' में लाने में सैद्धांतिक मानमनौअल एवं धमकी का सहारा लिया जाता था। इसने अनेक जनजाति समुदायों को 'जाति' के नाम पर हिंदुओं में समाहित किया और जिन समुदायों ने विरोध किया उन्हें निर्जन स्थानों, पहाड़ों या जंगलों में खदेड़ दिया। सबसे खराब दशा तब हुई जब हारे हुए आदिवासियों को समाज के किनारों पर धकिया दिया और वे इस तरह से अपने ही समुदाय से बाहर होकर 'अछूत' बने। इस प्रकार जनजाति समुदाय अनेक कारणों के दवाब में आये।

समय बीतते के साथ जनजाति समुदायों के भीतर स्वैच्छिक भेदभाव पैदा हुए जिसने उनको एकीकृत हिंदू समाज में बिना किसी हिंसा या बल प्रयोग के असमान जाति बना दिया। पूरे देश में अंतत परिणाम यह था कि जनजाति समुदाय के देवीदेवता और रीतिरिवाज, भ्रांतियों के प्रादुर्भाव, धार्मिक संस्कार और अनुष्ठान हिंदू समाज की वृहत धारा में प्रवेश पा गए।

आदिवासी परंपराओं में पुरखों की पूजा, प्रजनन शक्ति के देवी देवताओं, यहां तक कि नरनारी प्रजनन अंग प्रतीकों की आराधना, गृहदेवता की पूजा आदि सब ने प्रभाव जमाया। जिस प्रथा को आज हिंदूवाद या हिंदूधर्म कहते हैं उसमें उन सब ने अपना रास्ता बना लिया। 'व्रत' रखने की बड़े पैमाने पर फैली हुई भारतीय प्रथा अर्थात् मनोकामना प्राप्ति या नैतिक शुचिता के लिए रखा गया उपवास, भी आदिवासी मूल से ही है।

हमारे पौराणिक आख्यानों में जहां भी वनों का चित्रण हुआ है, वहाँ आदिवासी जनजातियों की महत्वपूर्ण भूमिका चित्रित की गयी है। रामायण में अनेक आदिवासी समुदायी को आख्यान का हिस्सा बनाया गया है। रायायण में राम की सहसयता करने वाली बानर सेना–सुग्रीव, बाली, जामवंत, कोल–भील, जटायु, नल–नील, सुषेण आदि पात्र आदिवासी समुदाय के हैं। इनमे नल–नील अभियन्ता और सुषेण वैद्यराज के रूप में चित्रित हैं। अर्थात कला, ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में वे कदाचित पिछड़े हुए नहीं है। एक वास्तुशल्पकार के रूप में मय दानव का उल्लेख है। असुर आदिवासी समाज (जाति) का उल्लेख एक पूर्ण विकसित समाज के

रूप में मिलता है, जहाँ भवन और नगर निर्माण वास्तुकला अथवा नागलोक का वैभव उनके विकास का परिचायक है। रामायण के अनुसार राम जन्म के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ क्षृंगी ऋषि के कराया था। क्षृंगी ऋषि अपनी जटा में सींग की बनी कंधी रखते थे। आज भी एक विशिष्ट आदिवासी समाज अपने लंबे केशों में हड्डी निर्मित कंधी रखता है।

आदिवासी जनजाति मुण्डा, की मुण्डारी भाषा में एक जादुर गीत गया जाता है। जिसमें एक पंक्ति है, हमने हल चलाते समय इसे पाया था। हम इसे सीता नाम देंगे। यह गीत रामायण के सीता आदिवासी परंपरा से जोड़ते है, क्योंकि वे राजा होकर भी हल चलाते थे। राम–रावण युद्ध में दोनों पक्षों के सैनिक (वानर, असुर) आदिवासी थी।

ऐसी आदिवासी जातियों का वर्णन भी पौराणिक आख्यानों में मिलता है। ऐसी ही एक जात है निषाद, इसे अनार्य जातियों की संज्ञा दी गयी है। रामायण में वन गमन के समय निषाद राज द्वारा राम की सहायता का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार की एक जनजाति है–शबर (मुण्डा भाषा परिवार से संबद्ध)। जिसकी एक पात्र शबरी के आश्रम में राम तथा लक्षण के द्वारा बेर खाने की कथा प्रसिद्ध है। इस प्रसंग में राम द्वारा शबरी के जुटे बेर खाने का चित्रण जनजातीय संस्कृति में प्रेम और छलरिहत जीवन को संकेतित करना है। ये जनजातियां प्रकृति की गोद में कृत्रिमता से दूर स्वाभाविक जीवन जीते हैं। रायायण की सभी महत्वपूर्ण घटनाए वनप्रांत की ही है। अतः सम्पूर्ण आख्यान में आदिवासी पात्रों की महात्वपूर्ण भूमिका है।

महाश्वेता देवी ने बतलाया है कि शिव और काली जनजाति के मूल से हैं जैसे कि कृष्ण और गणेश। 8 वीं शताब्दी में जनजाति की वनदेवी या कटाई की देवी को शिव की पत्नि के तौर पर माना गया था। हाथियों को प्रशिक्षित करने वालों की जनजाति से ही गणेश का उद्‌गम है जिनका हिंदू समाज में हाथी–चिन्ह देवतुल्य प्रवेश हुआ था। महाराष्ट्र के ब्राह्मण–वशों के अध्ययन में कौशाम्बी ने बतलाया कि अनेक ब्राह्मणों के गोत्र जैसे 'कश्यप' जनजाति

'कच्छप' 'कछुआ' प्रतीक से बना है। राजस्थान में राजपूत शासकों ने आदिवासी भील मुखियों को मित्रवत् स्वीकार किया। कुछ राजपूतों के राज्याभिषेक में उन्हें मुख्य भूमिका का अधिकार भी प्राप्त है।

संस्कृत और पाली के साथ आदिवासी भाषाओं के घुलन–मिलन के परिणाम स्वरूप भारत की क्षेत्राय भाषाएं पैदा हुईं जैसे उड़िया, मराठी या बंगाली और भारत की सभी भाषाओं ने आदिवासी भाषाओं के शब्दों को स्वीकार किया।

आदिवासियों ने विभिन्न पौधों और उनके औषधिक उपयोगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और आयुर्वेदिक दवाईंयों की उत्पत्ति में बहुमूल्य योगदान दिया। हाल ही के अध्ययनों में, ऑल इंडिया कोआरडिनेटेड रिसर्च प्रोजेक्ट ने पशुओं के स्वास्थ्य एवं मानवीय घाव–भरण के उपयोग में आने वाली 7,500 प्रजातियां आदिवासियों के 9,000 पौधों की प्रजातियों के संचित ज्ञान में से हैं मानकर, सम्मान किया है। दांतों की सुरक्षा के लिए दातुन, जड़ें एवं मसाले, हल्दी का रसोई में उपयोग, और मलहमों की खोजें आदिवासियों की ही हैं जैसे कि अनेक फल और लतायें हैं। जोड़ों की बीमारी और रतौंधी के उपचार का मूल आदिवासी ज्ञान में है।

कृषि उन्नति के लिए आदिवासियों ने महत्वपूर्ण काम किये हैं यथा अदल–बदल फसलें उगाना, उर्वरकता बनाये रखने के लिए वैकल्पिक फसलें और जमीन परती छोड़ना या उसका चारागाही उपयोग के द्वारा। उड़ीसा के आदिवासी चावल के अभिरंजक पैदा करने में सहायक रहे।

आदिवासी वाद्ययंत्र जैसे बांसुरी और ढोल, जनकथायें, नाच और ऋतु समारोहों ने भारतीय रिवाजों में, धातुविज्ञान की कुशलताओं एवं ललित कलाओं की ही तरह से ही जगह बनाई है।

भारत के मध्य भाग में आदिवासी समुदाय महत्वपूर्ण उंचाईयों तक उठे और खुद के शासक कुलों को पैदा किया। शुरूआती गोंड़ राज्य 10 वीं शताब्दी से प्रगट हुए और गोंड़ राजे 18 वीं शताब्दी तक अपना स्वतंत्रा अस्तित्व बनाये रख सके यद्यपि उन्हें मुगल साम्राज्य के प्रति निष्ठा के लिए मजबूर किया जाता था।

गढ़ मंडला राज्य ने उत्तर में उपरी नर्मदा घाटी के अधिकांश तथा आसपास के जंगली भूभागों पर नियंत्राण फैला लिया था। जहां उपरी बैनगंगा घाटी के अधिकांश पर देवगढ़–नागपुर राज्य प्रभुत्व जमाये था वहीं पर दक्षिण में वर्धा की सीमा के चारों ओर एवं बैनगंगा तथा पेनगंगा के संगम पर, चांदा–सिरपुर।

गढ़ मंडला राज्य के बड़े केंद्रों में से जबलपुर एक था और वहां बड़ी और राजकुलीन राजधानियों की तरह ही एक बड़ा किला और महल था। गोंड़ राजशाहियों के दौरान बहुत ही बारीक नक्काशी तथा मिथुन मूर्तियों के साथ मंदिर और महलों का निर्माण हुआ। चंदेल राजाओं के साथ गोंड़ शासक कुलों का घनिष्ठ संबंध रहा और दोनों चतुराईपूर्ण समझौतों के माध्यम से मुगल राज्य से अपनी स्वतंत्रता बचाये रखने में प्रयासरत रहा करते थे। जबलपुर की रानी दुर्गावती, चंदेल–गोंड़ कुल परंपरा, ने पौराणिक कथाओं में सम्माननीय स्थान प्राप्त किया। उसने मुगल आक्रमणों के विरूद्ध लड़ाई में रक्षा करते हुए वीरगति पाई थी। 18 वीं शताब्दी की शुरूआत में नागपुर शहर गोंड़ राजा के द्वारा बनाया गया था।

ब्रिटिश शासकों ने ज्योंहि पूर्वी भारत को अपने हिस्से में लिया। विदेशी शासन को चुनौति देते हुए जनजाति–विद्रोह भड़क उठे थे। उपनिवेश के शुरूआती दिनों में, भारत के अन्य किसी भी समुदाय ने ब्रिटिश शासन को वीरतापूर्वक यदि अवरोध दिया था तो वे आदिवासी समुदाय ही थे और उसके बदले में दुखद परिण ामों को अब के झारखंड़, छत्तीसगढ़ एवं उड़ीसा और बंगाल के आदिवासियों ने ही भुगता। 1772 में पहाड़िया विद्रोह भड़क उठा था। उसके बाद पांच वर्षीय उपद्रव तिलक मांझी के नेतृत्व में जिसे 1785 में भागलपुर में फांसी पर लटका दिया था। बाद में तमार और मुण्डा विद्रोह हुए। आगे के 20 वषों में सिंगभूम, गुमला, बिरभूम, बांकुरा, मानभूम और पालामउ में विद्रोह हुए। 1832 में कोल विद्रोह, खेबार एवं भूमिंग विद्रोह 1832–1855 में हुए। 1855 में कार्नवालिस की स्थाई बस्तियों के खिलाफ संथालों ने युद्ध किया और एक वर्ष बाद असंख्य आदिवासियों ने 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में मुख्य भूमिका निभाई।

परंतु 1858 की पराजय ने देश की संपदा और स्रोतों के ब्रिटिश शोषण को और भी गहरा बना दिया। 1865 में वन कानून पारित किया जो ब्रिटिश सरकार को वृक्षों या झाड़ियों वाली किसी भी भूमि को सरकारी जमीन घोषित करने और उसके व्यवस्थापन के कानून बनाने का अधिकार देता था। वन और भूमि के उपयोग करने वाले आदिवासियों के अधिकारों के संबंध में कोई उपबंध उस कानून में नहीं था। 1878 में उससे बड़ा 'इंडिया फारेस्ट एक्ट' पारित किया जो संरक्षित एवं सुरक्षित जंगल तथा उसके उत्पादों पर आदिवासियों के अधिकार पर कठोर रूकावटें थोपता था। उस कानून ने आदिवासी समुदायों की परंपरागत संपत्ति के स्वरूप को मूलभूतरूप से बदल दिया और उसे राज्य की संपत्ति बना दिया।

ब्रिटिश शासन के आदिवासी प्रतिरोध के लिए सजास्वरूप ''दी क्रमिनल ट्राइब एक्ट' 1871 में आदिवासी समूहों को कलंकित करते हुए एक तरफा पारित किया और आदिवासियों को जन्मजात अपराधी घोषित किया गया। ब्रिटिश हित में आदिवासियों को बड़ा दुश्मन माना गया था।

ब्रिटिश शासन और उसके स्थानीय प्रतिनिधियों के खिलाफ 18वीं शताब्दी के अंत के संघर्षों में खेरबार विद्रोह और बिरसा मुण्डा के आंदोलन बड़े महत्व के थे। बिरसा मुण्डा का लम्बा संघर्ष ब्रिटिश नीतियों की ओर उन्मुख था। ये नीतियां जमीनदारों और सूदखोरों को आदिवासियों का शोषण करने की अनुमति देतीं थीं। 1914 में जात्रा उरांव ने ताना आंदोलन शुरू किया जिसमें 25,500 से अधिक आदिवासियों ने भागीदारी की थी। 1920 में ताना उरांव आंदोलन ने देशव्यापी सत्याग्रह आंदोलन को अपनाया और औपनिवेशिक सरकार को लगान देना बंद कर दिया था। झारखंड पट्टे में आदिवासी विद्रोहों को सैनिक टुकड़ियों की बड़ी कार्यवाही के द्वारा दबाया।

आंध्र प्रदेश के पहाड़ी आदिवासी क्षेत्रों में अगस्त 1922 में विद्रोह हुआ था। अल्लुरी रामचंद्रा राजू सीताराम राजू के नेतृत्व में आंध्र पहाड़ियों के आदिवासियों ने ब्रिटिश को बड़े पैमाने पर गौरिल्ला युद्ध मे घसीट लिया था। असफल होने पर, ब्रिटिश उनको कुचलने

के लिए मलाबार स्पेशियल फोर्स ले आये और वे तब ही सफल हो सके जब अल्लुरी राजू वीरगति को प्राप्त हुआ था।

स्वतंत्रता संग्राम जैसे–जैसे फैला, संघर्ष के हर क्षेत्र में आदिवासियों ने सबका ध्यान अपनी ओर खींचा। अनेक खेतहर मजदूर और बहुत दबाये गए आदिवासी उच्च जाति के स्वतंत्राता संग्रामियों से जुड़ते गए इस भरोसे के साथ कि ब्रिटिश की हार के बाद नया और प्रजातंत्रात्मक युग पैदा होगा। स्वतंत्रता के बाद आज तक दुर्भाग्य है कि देश की स्वतंत्रता से दलित और आदिवासी सबसे कम लाभान्वित हो सके। यद्यपि स्वराज्य से भारतीय जनता के बड़े भाग के लिए विस्तृत लाभ मिले हैं पर दलित और आदिवासी इनसे बाहर ही छूटे रहे और देश की आदिवासी जनता के लिए नई–नई समस्यायें उत्पन्न हो गईं। 1947 की आबादी की तुलना में जनसंख्या के तिगुने होने से जमीन के स्रोतों पर बढ़ा हुआ दबाव, जंगली क्षेत्रों से विशेष मांगें, खदानें और जल स्रोतों ने आदिवासी जीवन में लूट मार मचा दी। अपनी परंपरागत भूमि से आदिवासियों को गैरसामंजस्यपूर्ण संख्या में हटा दिया गया जबकि अनेकों ने देखा है कि उनके पारंपरिक स्रोतों को जंगल माफिया और घूसखोर अधिकारियों ने हड़प लिया। माफिया और अधिकारियों ने गैरकानूनी व्यापारिक लीजों पर हस्ताक्षर किए जो कि संविधान द्वारा स्वीकृत आदिवासी अधिकारों के विरूद्ध हैं।

अब देखना यह है कि झारखंड और छत्तीसगढ़ राज्य बनने से भारत के आदिवासियों की दशा में क्या बदलाव आता है। जो भी हो यह बहुत जरूरी है कि आदिवासी समुदायों की शानदार धरोहरों का संरक्षण एवं लेखन के अवसर, प्रदूषणरहित उपयोग, सहभागितावाली वन–व्यवस्थापनायें और संरक्षण योजनायें, अनिवेषण संस्थान और पाठशालाओं में निवेश के संबंध में केन्द्रीय सरकार के द्वारा विशेष ध्यान दिया जाना अत्यावश्यक है। शैक्षणिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अवसरों में आदिवासियों को विशेष प्राथमिकता मिलना चाहिए जिससे आदिवासियों द्वारा सहे गये पहले के अन्याय और उपनिवेशन के प्रभावों का प्रतिकार किया जा सके।

आदिवासी सामुदायिक व्यवहारों की सुंदरता, उनकी मिल–बांटने एवं सब के लिए आदर की संस्कृति, गूढ विनम्रता, प्रकृति प्रेम और सबसे उपर उनकी समानता तथा नागरिक समन्वय की गहन अनुरक्ति से देश बहुत कुछ सीख सकता है।

आदिवासियों के लिए सबसे बड़ी परेशानी की वजह क्या है? इस बात के ढेरों जवाब हो सकते हैं लेकिन आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखंड और ओडिशा के आदिवासियों की हालत देखें तो इसका सीधा जवाब मिलता है। जल, जंगल और जमीन। आजादी के बाद से लगातार जल, जंगल और जमीन के कारण उन्हें बार–बार विस्थापित होना पड़ा है और भला अनचाहे विस्थापन से बड़ा दर्द क्या हो सकता है? देश में लगभग 11 करोड़ आदिवासियों की आबादी है और विभिन्न आंकड़ों की मानें तो हर दसवां आदिवासी अपनी जमीन से विस्थापित है। पिछले एक दशक में ही आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखंड और ओडिशा में जो 14 लाख लोग विस्थापित हुए, उनमें 79 प्रतिशत आबादी आदिवासियों की है। दुर्भाग्यजनक ये है कि आदिवासियों के विस्थापन का यह सिलसिला अनवरत जारी है।

अब छत्तीसगढ़ के जशपुर जिले को ही लें। लगभग 70 फीसदी आदिवासी आबादी वाले इस जिले में 122 उद्योगों की स्थापना के लिए 6023 वर्ग किलोमीटर जमीन की मांग की गई है, जबकि जिले का कुल क्षेत्रफल 6205 वर्ग किलोमीटर है।

छत्तीसगढ़ का इतिहास जितना प्राचीन है, उतने ही प्राचीन आदिवासी भी है। छत्तीसगढ़ की पहचान उसके जंगल और आदिवासियो के लिए है। पर, पिछले कुछ वर्षों में इस्पात, लोहा संयंत्र और खनन परियोजना ने आदिवासियों का जीवन संकट में डाल दिया है। बस्तर, दंतेवाड़ा जिलों में जहां नक्सलवाद के कारण आदिवासियों का जीवन दूभर हो गया है, तो सरगुजा और जशपुर जिले में खनिज संसाधनों का दोहन और सरकारी उपेक्षा आदिवासी समाज के लिए खतरा बन चुका है।

हालत ये है कि राज्य के जशपुर जिले में बसने वाली असुर जाति की जनसंख्या केवल दो सौ पच्चासी (285) रह गई है।

असुर जनजाति पूरे छत्तीसगढ़ में जशपुर और सरगुजा जिले में ही निवास करती है। पूर्व में असुर वनों पर पूरी तरह आश्रित थे और पत्थरों को गलाकर लोहा बनाते थे। पत्थरों को गलाकर लोहा बनाने वाली ये विशेष पिछड़ी जनजाति अब विलुप्ति के कगार पर है। नई तकनीक के आ जाने के कारण इनके परंपरागत व्यवसाय पर ग्रहण लग चुका है और किसी और काम में कुशलता नहीं होने से इनके सामने रोजगार का संकट आ खड़ा हुआ है। आश्चर्यजनक है कि असुर जनजाति के संरक्षण एवं संवर्धन की दिशा में छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा कोई प्रयास नहीं किया जा रहा है। अविभाजित मध्यप्रदेश में दूसरी जनजातियों के लिए करोड़ों रुपए की योजनाएं चलाई गईं लेकिन असुर जनजाति इन सारी योजनाओं से दूर ही रखी गई। छत्तीसगढ़ राज्य में 5 विशेष पिछड़ी जनजातियों अबूझमाड़िया, कमार, पहाड़ी कोरबा, बिरहोर एवं बैगा के विकास के लिए विशेष अभिकरण का गठन किया गया है। असुर जनजाति को तो इस अभिकरण में शामिल ही नहीं किया गया है, लेकिन इस अभिकरण में शामिल बिरहोर जनजाति तमाम सरकारी दावों के बाद भी खत्म होती जा रही है। छत्तीसगढ़ में आज इनकी संख्या केवल 401 रह गई है। पहाड़ी कोरवा जनजाति की संख्या भी पिछले कुछ सालों में घटते–घटते 10,825 रह गई है।

असुर और बिरहोर जनजातियों के साथ एक बड़ा संकट ये भी है कि जंगल के इलाकों में रहने के कारण आमतौर पर सरकार संचालित योजनाएं इन तक नहीं पहुंच पाती। केंद्र और राज्य सरकार की रोजगार गारंटी योजना सहित दूसरी योजनाओं से ये आदिवासी पूरी तरह दूर हैं। जंगलों में भोजन की उपलब्धता के कारण कुपोषण और बीमारी इनके लिए जानलेवा साबित हो रही है। ऊपर से इलाके में होने वाला औद्योगिकरण की मार इन पर पड़ रही है और इन्हें अपनी जमीन और परंपरागत व्यवसाय से विस्थापित होना पड़ रहा है। बड़ी खनन कंपनियां इन जनजातियों के रहवासी इलाकों में खनन कर रही हैं और इन आदिवासियों को अपनी जमीन से विस्थापित होना पड़ रहा है। शिक्षा से कोसों

दूर होने के कारण इन्हें इन कंपनियों में कोई काम नहीं मिल रहा है। यहां तक कि श्रमिको के तौर पर भी इन आदिवासियों को इन कंपनियों में काम नहीं मिल रहा क्योंकि अधिकांश कंपनियों में उत्खनन का काम मशीनों से हो रहा है और मानव श्रम के लिए ये कंपनियों बाहरी श्रमिकों पर निर्भर है।

सरकारी लापरवाही का आलम ये है कि इन दोनों जनजातियों की कुल जनसंख्या 686 की शिक्षाए रोजगार, स्वास्थ्य समेत दूसरी मूलभूत सुविधाओं का कोई भी आंकड़ा राज्य सरकार के पास उपलब्ध नहीं है। ऐसे में भला आदिवासियों के विकास की बात कैसे की जा सकती है?

माओवाद के नाम पर आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल कर वहां की खनिज संपदा पर एकाधिकार करने का अभियान चलाया जा रहा है। सत्ता और कॉरपोरेट प्रायोजित इस अभियान को समूचा समाज समर्थन दे रहा है। हो सकता है कि समूचा समाज में अपने को भी शामिल कर लिये जाने से कई लोग असहमति रखते हों, लेकिन इससे उनका अपराध कम नहीं हो जाता।

मध्य भारत में आदिवासियों के साथ जो कुछ हो रहा है वो आजकल की परिघटना नहीं है। यह पिछले एक दशक की तैयारी है। सत्ता में बैठे लोगों ने बहुत पहले ही इसका रोडमैप तैयार कर लिया था। उन्हें अंदाजा था कि आदिवासी अपनी जमीने ऐसे ही नहीं छोड़ देंगे।

अब भी आदिवासियों को उनकी जमीन से खदेड़ने की लड़ाई लड़ी जा रही है। सभ्यता के विकास के साथ आदिवासियों को जंगलों की ओर धकेला गया। अब जब यह पता चला है कि जंगलों में खजाने दबे हैं तो जंगलों को आदिवासियों से खाली करने के लिए उन्हें फिर वहां से निकाला जा रहा है। इसके लिए सैन्य और असैन्य सभी तरह के हथियार आजमाए जा रहे हैं। सारी दुनिया में आदिवासियों को अपनी जल, जंगल, जमीन से एक सा लगाव होता है। शुरू से लेकर आज तक उनकी लड़ाई इसी के लिए रही है।

दंतेवाड़ा या बस्तर के घने जंगलों में जब सुरक्षा बल घुसते हैं तो वो भी ऐसा ही करते हैं। आदिवासियों के घर जलाते हैं उनके मुर्गे–मुर्गियां मार कर खा जाते हैं या अनाजों को नष्ट कर देते हैं ताकि उन लोगों को वहां से उजड़ने पर मजबूर किया जा सके। यहां की सरकारें निजी कंपनियों से लगातार सहमति पत्रों पर हस्ताक्षर कर उन्हें आमंत्रित कर रही हैं कि 'यहां खजाना पड़ा है, आइए खोद कर ले जाइए।' सलवा जुडुम जैसे आंदोलनों के जरिये आदिवासियों को उनकी मूल भूमि से उजाड़कर कैम्पों में बसाया जा रहा है। जैसे की पहले अमेरिका में रेड इंडियनों को 'सुरक्षित क्षेत्रों' में कैद किया गया और फिर वह इलाका पर्यटकों के लिए खोल दिया गया। उन्हें नुमाइश की चीज बना दी गई।

भील जनजाति राजस्थान की प्रमुख प्राचीन जनजाति है। जिस प्रकार उत्तरी राजस्थान में राजपूतों के उदय से पहले मीणों के राज्य रहे, उसी प्रकार दक्षिणी राजस्थान और हाड़ौती प्रदेश में भीलों के अनेक छोटे–छोटे राज्य रहे है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में भील शब्द लगभग सभी वनवासी जातियों जैसे निषाद, शबर आदि के लिए समानार्थी रूप से प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार भील संज्ञा प्राचीन संस्कृति साहित्य में उस वर्ग विशेष के लिए प्रयुक्त की जाती थी जो धनुष–बाण से शिकार करके अपना पेट–पालन करते थे यह देखा गया है कि इस स्थिति को परवर्ती साहित्य में भी लगभग ज्यों का त्यों बरकरार रखा गया। मेवाड़, बागड़ और गोवाड़ प्रदेश में चार विभिन्न जनजातियां मीणा, भील, डामोर और गरासिया निवास करती है पर पत्रकार और लेखक इन चारों के लिए केवल भील संज्ञा ही प्रयुक्त करते हैं। आज भी सामान्यतः लोगों की यही धारणा है कि उपरोक्त समूचे प्रदेश में केवल भील जनजाति ही निवासी करती है।

इस संदर्भ में एक कहावत भी प्रचलित है कि संसार में केवल साढ़े तीन राजा ही प्रसिद्ध है इन्द्र राजा, राजा और भील राजा तथा आधे में बींद (दूल्हा राजा)। मेवाड़ की स्थापना के बाद से ही मेवाड़ के महाराणाओं को भील जनजातियों को निरंतर सहयोग मिलता रहा। महाराणा प्रताप इन्हीं लोगों के सहयोग से वर्षों तक मुगल

फौजों से लोहा लेते रहे थे। यही कारण है कि उनकी सेवाओं के सम्मान–स्वरूप मेवाड़ के राज्य चिन्ह में एक ओर राजपूत और दूसरी ओर भील दर्शाया जाता था। आमेर के कछावा राजाओं की भांति मेवाड़ के महाराणा भी भीलों के हाथ के अंगूठे के रक्त से अपना राजतिलक करवाते रहे थे। भील जनजाति राजस्थान के सब जिलों में न्यूनाधिक रूप से पाई जाती है। पर राजस्थान के दक्षिणांचल में इनका भारी जमाव है। भील जनजाति राजस्थान के अलावा मध्य प्रदेश गुजरात और महाराष्ट्र में भी पाई जाती है। राजपूतों के उदय से पहले राजस्थान की धरती पर निम्न क्षेत्रों में भीलों के राज्य रहे हैं। डूंगरपुर, बांसवाड़ा, कुशलगढ़, कांठला प्रदेश, कोटा, मनोहर थाना, मानगढ़ आदि। ●

● सत्याग्रह एक ऐसी तलवार है जिसके सब ओर धार है। उसे काम में लाने वाला और जिस पर वह काम में लाई जाती है, दोनों सुखी होते हैं। खून न बहाकर भी वह बड़ी कारगर होती है। उस पर न तो कभी जंग ही लगता है और न कोई चुरा ही सकता है। –महात्मा गांधी

● सत्य का मुंह स्वर्ण पात्र से ढका हुआ है। हे ईश्वर, उस स्वर्ण पात्र को तू उठा दे जिससे सत्य धर्म का दर्शन हो सके। –ईशावास्योपनिषद्

● मनुष्य मात्र में बुद्धिगत ऐसा कोई दोष नहीं है जिसका प्रतिकार उचित अभ्यास के द्वारा न हो सकता हो। शारीरिक व्याधि दूर करने के लिए जैसे अनेक प्रकार के व्यायाम हैं वैसे ही मानसिक रुकावटों को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के अध्ययन हैं। –बेकन

● राजनीति घुड़दौड़ में दौड़ने वाला घोड़ा है। इसीलिए पेशेवर घुड़सवार को यह जरूर जानना चाहिए कि यदि वह गिर पड़े तो उसे चोट कम से कम लगे। –इडौर्ड हैरिऑट

● राजनीति विपत्तियों को खोजने, उसे हर जगह पा लेने, समस्याओं का गलत निदान करने और अनुपयुक्त चिकित्सा करने की कला है। –अर्नेस्ट बेन

2

आदिवासी संस्कृति

संस्कृति का सीधा–सादा अर्थ है परिष्कार या संस्कार। वस्तुतः परिमार्जित संस्कार ही संस्कृति है। इसके संबंध की मान्यताओं में पर्याप्त मतभेद और विरोध हैं। इसकी सीमाएं एक ओर ओर धर्म का स्पर्श करती हैं तो दूसरी ओर साहित्य को अपने बाहुपाश में आबद्ध करती हैं। संस्कृति भौतिक साधनों के संचयन के साथ ही अध्यात्मिकता की गरिमा से मंडित होती है। वेश–भूषा, परंपरा, पूजा–विधान और सामाजिक रीति–विधान और सामाजिक रीति–नीति की विवेचना भी संस्कृति के अंतर्गत होती है।

सांस्कृतिक परम्परा पर विचार करने से पहले यह परिभाषित कर लेना उचित प्रतीत होता है कि संस्कृति क्या है? संस्कृति कर लेना उचित प्रतीत होता है कि संस्कृति और लोकतंत्र में क्या अंतर है जनजातीय संस्कृति और लोकसंस्कृति में भी कोई अंतर है या नहीं? विविध प्रकार की जीवनशैलियों और सामाजिक परमपराओं में संस्कृति के जो स्थानिक और देशिक रूप दिखलाई पड़ते हैं, उनके वर्गीकरण और एकीकरण के क्या आधार हो सकते हैं।

आदिवासी समाज और संस्कृति के प्रति हमारे तथाकथित सुसंस्कृत समाज का रवैया क्या है? वो चाहे सैलानी, पत्रकार लेखक हों या समाजशास्त्री, आमतौर पर सबकी एक ही मिलीजुली कोशिश इस बात को खोज निकलने की रही है कि आदिवासियों

में अदभुत और विलक्षण क्या है? उनके जीवन और व्यवहार में आश्चर्य और तमाशे के लायक चीजों की तलाश और हमसे बेमेल और पराए पहलुओं को इकहरे तरीके से रोशन करने लोगों का ध्यान आकर्षित करने और मनोरंजन के लिए ही लोग आदिवासी समाज और सुसंस्कृति की ओर जाते रहे हैं। नतीजा हमारे सामने है उनके यौन जीवन और रीतिरिवाजों के बारे में गुदगुदाने वाले सनसनीखेज ब्योरे तो खूब मिलते हैं, पर उनके पारिवारिक जीवन की मानवीय व्यथा नहीं। उनके अलौकिक विश्वास, जादू–टोने और विलक्षण अनुष्ठानों का आँखों देख हाल तो मिलता है, उनकी जिंदगी के हर सिम्त हाड़तोड़ संघर्ष की बहुरूपी और प्रमाणिक तस्वीर नहीं। वे आज भी आदमी की अलग नस्ल के रूप में अजूबा की तरह पेश किए जाते हैं। विचित्र वेशभूषा में आदिम और जंगली आदमी की मानिंद।

जनजातियों की सांस्कृतिक परम्परा और समाज संस्कृति पर विचार की एक दिशा यहाँ से भी विचारणीय मानी जा सकती है। लेकिन ऐसे अध्ययन का संकट तब खड़ा हो जाता है जब हम ज्ञान को ज्ञान के लिए नहीं मानकर उसकी सामाजिक संगति की तलाश खोजना शुरू करते हैं। यहीं चिंतन की हमारी दृष्टि और उसके कोण की वास्तविक परीक्षा भी शुरू हो जाती है। ठीक यहीं से सूचनाओं का विश्लेषण विवेचना चुनौती बनकर खड़े हो जाते हैं।

सवाल तो यह भी उतना है महत्त्वपूर्ण है कि क्या उनके विकास के नाम उन्हें आधुनिक जटिल राज्य तंत्र और समाज व्यवस्था के सामने टूटकर बिखरने के लिए छोड़ दिया जाए या उन्हें नए परिवेश में सहज गतिशील होने के लिए पर्याप्त अवसर दिया जाए? जनजातियों के संदर्भ में विचार करें तो यह सवाल और नुकीला हो जाता है कि क्या उन्हें आदिम मानव सभ्यता के पूरात्तात्विक पुरावशेष के रूप में पुरातन जीवन स्थिति में ही अलग थलग छोड़ दिया जाए या विज्ञान और तकनीकी प्रगति की आधुनिक व्यवस्था में समायोजित होने का अवसर भी दिया जाए?

आज यह आवश्यकता दिख रही है कि विकास की मौजूदा अवधारणा की एक बार फिर समीक्षा की जाए और नई आधुनिक

व्यवस्था में जनजातीय समूहों के मानवीय अधिकारों की समुचित अभिरक्षा की जाए। तभी जनजतीय संस्कृति या उसकी परंपरा के विषय में हमारी चिंता को एक वास्तविक आधार सुलभ होगा। औद्योगिक विकास के लिए खनिज सम्पदा और जंगल–पहाड़ के इलाके राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए अनिवार्यतः उपयोगी माने जा रहे हैं और ये सारी सहूलियतें इन्हीं आदिवासी अंचलों में सुलभ हैं तो क्या क्षेत्रीय या राष्ट्रीय हितों के लिए 10 प्रतिशत आदिवासियों को विस्थापित कर उनकी अपनी जीवन शैली, समाज–संरचना, सांस्कृतिक मूल्यों में बलात् वंचित कर किया जाए?

आदिवासियों के आख्यान उनके मिथक, उनकी परम्पराएँ आज इसलिए महत्वपूर्ण नहीं हैं कि वे बीते युगों की कहानी कहती हैं, बल्कि उनकी अपनी संस्थाओं और संस्कृति के एतिहासिक तर्क और बौद्धिक प्रसंगिकता के लिहाज से भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी पूरी जिन्दगी से उनका एक क्रियाशील, प्रयोजनशील, कलात्मक अभिव्यक्तियाँ, सौन्दर्यात्मक चेष्टाएँ, अनुष्ठानिक क्रियायें और पारस्परिक रिश्ता है।

सदियां इस बात की गवाह है कि जब–जब किसी बाहरी सोच या रहन–सहन ने किसी वनवासी क्षेत्र या समुदाय के लोगों के बीच प्रवेश किया है, आदिवासियों की संस्कृति पर इसका सीधा असर हुआ है। जब से आदिवासी विस्तार और लोगों तक तथाकथित आधुनिक विकास ने अपनी पहुंच बनानी शुरू की है, तब से आदिवासी परंपराओं का विघटन भी शुरू हो गया है। आदिवासी गाँवों से निकलकर जब शहरों तक जाते हैं, गाँवों की शिक्षा को भूल पहले शहरीकरण में खुद को ढाल लेते हैं और इस तरह चलता रहा तो गाँव के बुजुर्गों का ज्ञान उन्हीं तक सीमित रहेगा और एक समय आने पर सदा के लिए खो भी जाएगा।

जंगल में सदियों से रहने वाले आदिवासी जंगल के पशुओं के लिए खतरा नहीं हो सकते बल्कि जानवरों के संरक्षण और जंगल को बचाने के नाम पर जंगल में कूच करने वाली एजेंसियां जंगल के लिए ज्यादा बड़ा खतरा हैं। विकास के नाम पर वनवासियों की जमीनें छीनी गईं, बाँध बनाने के नाम पर इन्हें विस्थापित

किया गया और दुर्भाग्य की बात है कि ये सारे विकास के प्रयास आदिवासी विकास के नाम पर किए जाते रहे हैं लेकिन वास्तव में ये सब कुछ बाहरी दुनिया के लोगों के हित के लिए होता है न कि आदिवासियों के लिए।

जब जंगलों में रहने वाले लोग बाहरी दुनिया के लोगों से मिलते हैं तो बाहरी चमक–दमक देखकर वनवासियों के युवा बाहरी दुनिया को जानना, समझना चाहते हैं। उन्हें अपनी संस्कृति, अपने लोगों की तुलना में बाहरी दुनिया ज्यादा मोहक लगती है और यहीं से पलायन की शुरुआत होती है। अपने गाँव के बुजुर्गों और उनके बताए ज्ञान को एक कोने में रखकर युवा वर्ग घर से दूर होने लगते हैं और यहीं से पारंपरिक ज्ञान के पतन की शुरुआत भी होती है।

आदिवासी समाज आज भी जोर देकर कहता है कि वह सदियों से प्रकृति और अपने पुरखों के पूजक रहा है और है। वह प्रकृति पूजा को अपना धर्म मानता रहा है और है। वह सदियों से अपनी प्रकृति सम्मत सर्वोच्च मानव संस्कृति और सभ्यता का वाहक रहा है और है। वह अपनी बोली भाषा पर सदियों से अटल रहा है आज भी है, किन्तु समाज का धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्व साहित्य और साहित्यों में एकरूपता तथा प्रचार–प्रसार के अभाव में धीरे–धीरे सबकुछ विलुप्त होता जा रहा है। साहित्य की कमी ने हमारे सारे समृद्धि और विकास के रास्तों को अवरुद्ध कर दिया और दूसरों की साहित्यिक तथा धार्मिक अंधानुकरण ने गुलाम बना दिया है।

अब सवाल यह उठा है कि आदिवासी समाज का सबसे वृहद, संपन्न भू–भाग रहा, सदियों से उसकी अपनी बोली भाषा और लिपि भी रही, जिसके माध्यम से विचारों का आदान–प्रदान, व्यापार विनिमय करते रहे, अपनी प्राकृतिक एवं समृद्धिपूर्ण संस्कृति रही, फिर भी हमें अपनी समृद्धि को बचाए रखने और विकास की ओर आगे बढ़ने के लिए किसने रोका? समाज अब तक आगे क्यों नहीं बढ़ा? इसपर चिंतन कर इसके गूढ़ को रहस्य को सुलझाने का दायित्व, आज देश के आदिम समाज के लिए चिन्तनशील साहित्यकार, पढ़े–लिखे और युवा पीढ़ी पर है।

झारखण्ड सांस्कृतिक क्षेत्र का एक भाग भी कहा जाता रहा है, सांस्कृतिक दृष्टि से एक समृद्ध अतीत और वर्तमान का क्षेत्र है। आप झारखंडी संस्कृति की विशिष्ट पहचान से साक्षात्कार कर सकते हैं। यह क्षेत्र और यहाँ की मूलवासी जातियाँ जिनमें जनजातियाँ और सदानी समुदायों की साझेदारी है, सदियों से एक समरस और समतावादी समाज बनाकर रहते आए हैं।

यह इतिहास लगभग दो हजार साल पुराना इतिहास है जब सदानी जातियों की मूल जाती नागवंशियों ने छोटानागपुर में राज्य बनाया था। खुखर राज्य के पहले राजा नागवंशी फणीमुकुट राय थे जिन्होंने मुंडाओं के सहयोग से राज्य की स्थापना की थी। नाग जाति के बारे में अभी तक पर्याप्त शोध नहीं हुए हैं किन्तु डॉ. अम्बेडकर, डॉ. कुमार सुरेश सिंह, डॉ. बी. पी. केशरी तथा कई अन्य विद्वानों ने जो प्रमाण और साक्ष्य जुटाए हैं वे नाग जाति के इतिहास के अस्तित्व को स्पष्ट स्थापित करते हैं। नाग जाति बहुत सुसंस्कृत, बहादुर और शांतिप्रिय जाति रही हैं इस जाति ने गौतम बुद्ध के नेतृत्व में सैकड़ों वर्षों तक ब्राह्मण धर्म के जातिभेद और छुआछूत के खिलाफ संघर्ष किया था। हिन्दुओं ने अपने बहुत से पर्व दृ त्योहार इस जाती के संस्कृति से लिए हैं प्रसिद्ध राजा शशांक इसी नाग जाति के थे।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि मुंडा लोग इस क्षेत्र में ईसाई युग शुरू होने से पहले ही आकर बसने लगे होंगे। असुर संस्कृति के बारे मे यह कहा जा सकता है कि यह संस्कृति कम–से–कम कुषाण काल तक लगभग 70 से 150 ई. तो थी ही जैसा कि दो असुर स्थलों पर पाए जाने वाले कुषाण सिक्कों से पता चलता है। ऐसा माना जाता है कि असुर लोग भगवान शिव के बड़े भक्त थे तथा शिव लिंग की पूजा करते थे। इस क्षेत्र के सदानी जातियों के समानांतर जनजातीय समाज और उसकी संस्कृति भी बहुत पुरानी है। मुंडा जनजाति के भूमिज लोगों ने सिंहभूम– वराहभूम के इलाके में भूमिज राज कायम किया था। छोटानागपुर में पाए जाने वाले अनेक असुर स्थलों पर प्राप्त पुरातात्त्विक वस्तुओं के आधार पर यह कहा जाता है की सांस्कृतिक दृष्टि से छोटानागपुर

उतना ही प्राचीन है, जितनी सिन्धु घाटी की सभ्यता। फिर भी साधारणतः बिहार का और विशेषकर छोटानागपुर का प्रारंम्भिक सांस्कृतिक इतिहास रहस्य के आवरण में ढंका हुआ। इसलिए इस क्षेत्र का इतिहास मुख्यतः वैदिक पौराणिक, जैन तथा बौद्ध साहित्य के छिटपुट अवलोकन, पुरातात्त्विक वस्तुओं के अध्ययन एवं क्षेत्रीय लोकसाहित्य और दंतकथाओं के विश्लेष्ण के आधार पर ही तैयार किया जा सकता है।

उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार वे बहुत से भारतीय प्रदेशों में शताब्दियों से इन भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती रही हैं। भारत के एक सीमांत से दूसरे सीमांत तक उनका आव्रजन हुआ है। प्रत्येक स्थिति में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक बाध्यताओं के कारण, वे गैरजनजातीय समुदायों के सम्पर्क में आते रहे हैं। यही नहीं उनका एक उल्लेख भाग गैरजनजातीय लोगों के साथ गांवों में निवास करता रहा है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि झारखण्ड की जनजातीय संस्कृति और गैर जनजातीय सदानी संस्कृति के बीच परस्पर आदान–प्रदान का सिलसिला पुराना है। इसकी जाँच के आधार के रूप में भाषा का उपयोग जिन विद्वानों ने किया है, उनमें डॉ. कायपर, प्रोपिजूलिस्की, डॉ. प्रबोधचंद्र बागची, प्रो.सिलवां लेवी और डॉ. दिनेश्वर प्रसाद के अध्ययन से यह तथ्य प्रमाणित होता है कि संस्कृतिक संबंद्धता का इतिहास उतना ही पुराना है जितना इस दुर्गम क्षेत्र में मानव–विकास।

अब तक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि छोटानागपुर की संस्कृति, जिसे झारखंडी संस्कृति की पहचान और नाम भी दिया जाता है, एक पुरानी संस्कृति है। उसे इस भौगिलिक क्षेत्र में आर्य मूल के नागवंशी सदान जातियों और मुंडकुल के जनजातीय समुदायों ने मिल–जुलकर श्रम प्रधान समतावादी जातिचेतना से रहित संस्कृति के रूप में विकसित किया था। यों तो इस क्षेत्र की विशिष्ट संस्कृति शेष भारतीय संस्कृति के जीवन सम्पर्को में आती रही और दोनों पक्षों ने एक–दूसरे के संस्कारों को आदान–प्रदान के स्तर पर प्रभावित भी किया, किन्तु मध्य काल में मुस्लिम शासन

की अवधि में सामन्ती राजसत्ताओं के स्थापित होने के बाद इस क्षेत्र के संस्कृति जीवन में बाहरी आबादी का आवागमन बढ़ने के साथ संस्कृतिकरण का एक नया दौर शुरू हुआ।

छोटानागपुर या झारखण्ड के सांस्कृतिक परिवर्तनों के पिछले पांच सौ वर्षों का इतिहास व्यापक उलट–फेर का काल रहा है और उसने झारखंडी संस्कृति की बुनियादी पहचान को कई स्तरों पर तोड़ा और मोड़ा हैं। इसी दौर में पुराने समाज–संगठन ढीले पड़े और मुस्लिम और ईसाई जीवन दृष्टियों से उसका परिचय हुआ। इसलिए यह कहना इतिहास सम्मत होगा कि अपने प्रारंभिक उद्‌भावकाल में इस क्षेत्रीय संस्कृति में हिन्दू समाज–संस्कृति की कई विकृतियाँ और संस्कार जुड़े, किन्तु इससे ज्यादा बड़े पैमाने पर संस्कृति–संकरता के आक्रमण मुस्लिम और अंग्रेज शासनकाल में दिखाई पड़ते हैं।

छोटानागपुर राज पहली सदी में स्थापित हुआ माना गया है। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद फणी मुकुट राय छोटानागपुर के प्रथम राजा हुए। सन 83 में 19 वर्ष की अवस्था में इन्हें शासन में बिठाया गया था। यहाँ इस बात का उल्लेख कि आज क्षेत्र की दो प्रमुख जनजातियों का प्रवेश इस क्षेत्र में इसी अवधि में हुआ है। ये जनजातीय समुदाय संताल और उराँव कबीलों के हैं जो मुंडाओं और सदानों के बाद उत्तर मध्यकाल और पूर्व आधुनिककाल के बीच सबसे बड़े जनसांख्यिक समीकरण बनाने से सफल हुए। उरांवो और संतालों के आगमन से पूर्व झारखण्ड के ये क्षेत्र असुरों और पहाड़िया जनजातियों के प्रभुत्व में थे।

ब्रिटिश कानूनों के तहत जनजातियों की सम्पत्तिविषयक आवधारणा का सम्पूर्ण क्षरण हुआ। उनकी सामुदायिकता की भावना में पतनोन्मुख प्रवृत्तियाँ विकसित हुई और उनके खूंटकट्टी गांवों की भूमि–व्यवस्था भंग हो गई तथा उसकी जगह निजी स्वामित्व की सम्पत्तिविषयक आवधारणा का विकास हुआ। धर्मांतरण ने भी स्वयं इन समुदायों के धीरे–धीरे संगठित होते एक प्रभावशाली वर्ग को अपनी संस्कृति की मूल जड़ों से काटकर आधुनिकीकरण और अलगाव के खाते में दर्ज कर दिया। इस नई स्थिति के कारण

जनजातियों के समाज संगठन कमजोर हुए, सामाजिकता की भावना में ह्रास आया, अखरा–घुककुडिया की परंपरा अवरूद्ध हुई।

आदिवासी समाज पर्यावरण के हितैषी होते हैं। भारत में करीब तीन हजार की संख्या में विभिन्न जातियों और उप–जातियां निवास करती है। सभी का रहन–सहन, रीति–रिवाज एवं परम्पराएं अपनी विशिष्ट विशेषताओं को दर्शाती है। कई जातियां मसलन गोंड–भील–बैगा–भारिया आदि जंगल मे आनादिकाल से निवास करती आ रही है। सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति जंगलों से होती है। इन जातियों की सामाजिक–आर्थिक–राजनितिक एवं कुटुम्ब व्यवस्था की अपनी अलग पहचान रही है। इन लोंगो में वन–संरक्षण करने की प्रबल वृत्ति है। अतः वन एवं वन्य–जीवों से उतना ही प्राप्त करते हैं, जिससे उनका जीवन सुलभता से चल सके और आने वाली पीढ़ी को भी वन–स्थल धरोहर के रुप में सौप सकें। इन लोगों में वन संवर्धन, वन्य जीवों एवं पालतू पशुओं का संरक्षण करने की प्रवृत्ति परम्परागत है। इस कौशल दक्षता एवं प्रखरता के फलस्वरुप आदिवासियों ने पहाड़, घाटियों एवं प्राकृतिक वातावरण को संतुलित बनाए रखा।

साफ–सुथरी हवा में विचरने वाले, जंगल में मंगल मनाने वाले इन भले भाले आदिवासियों का जीवन में जहर–सा घुल गया है। आज इन आदिवासियों को पिछड़ेपन, अशिक्षा, गरीबी, बेकारी एवं वन–विनाशक के प्रतीक के रूप में देखा जाने लगा है। उनकी आदिम संस्कृति एवं अस्मिता को चालाक और लालची उद्योगपति खुले आम लूट रहे हैं। जंगल का राजा अथवा राजकुमार कहलाने वाला यह आदिवासीजन आज दिहाडी मजदूर के रुप में काम करता दिखलायी देता है। चंद सिक्कों में इनके श्रम–मूल्य की खरीद–फरोख्त की जाती है और इन्हीं से जंगल के पेड़ और जंगली पशु–पक्षियों को मारने के लिए अगुआ बनाया जाता है। उन्होंने सपने में भी कल्पना नहीं की होगी की पीढ़ी दर पीढ़ी जिन जंगलों में वे रह रहे थे, उनके सारे अधिकारों को ग्रहण लग जाएगा। विलायती हुकूमत ने सबसे पहले उनके अधिकारों पर प्रहार किया और नियम प्रतिपादित किया कि वन की सारी

जिम्मेदारी और कब्जा सरकार की रहेगी और यह परम्परा आज भी बाकायदा चली आ रही है।

वे अब भी झूम खेती करते है। पेड़ को जलाते नहीं है, जिसके फलों की उपयोगिता है। महुआ का पेड़ इनके लिए किसी कल्पवृक्ष से कम नहीं है। जब इन पर फल पकते हैं तो वे इनका संग्रह करते हैं और पूरे साल इनसे बनी रोटी खाते है। इन्हीं फलों को सड़ाकर वे उनकी शराब भी बनाते हैं। शराब की एक घूंट इनमें जंगल में रहने का हौसला बढाता है।

स्वतंत्रता से पूर्व समाज के विशिष्ट वर्ग एवं राजा–महाराजा भी इन आदिवासी क्षेत्र से छेड़–छाड़ नहीं किया करते थे। लेकिन अग्रेजों ने आदिवासी क्षेत्रों की परम्परागत व्यवस्था को तहस–नहस कर डाला, क्योंकि यूरोपीय देशों में स्थापित उद्योगों के लिए वन एवं वन्य–जीवों पर कहर ढा दिया। जब तक आदिवासी क्षेत्रों के प्राकृतिक वातावरण में सेंध नहीं लगी थी, तब तक हमारी आरण्यक–संस्कृति बरकरार बनी रही। आधुनिक भौतिकवादी समाज ने भी कम कहर नहीं ढाया। इनकी उपस्थिति से उनके परम्परागत मूल्यों एवं सांस्कृतिक मूल्यों का जमकर ह्रास हुआ है।

हमें देश की अर्थव्यवस्था को विश्व संस्कृति के स्तर पर सुदृढ बनाते हुए समानान्तर स्तर पर लाना है, लेकिन अरण्य संस्कृति को विध्वंश करके किये जने की परिकल्पना कालान्तर में लाभदायी सिद्ध होगी, ऐसा सोचना कदापि उचित नहीं माना जाना चाहिए। हमें अपने परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों, सामाजिक परम्पराओं क विनाश न करते हुए आदिवासियों की वन एवं वन्य–जीव संस्कृति को बगैर छेड–छाड़ किए संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए।

देश की स्वतंत्रता के उपरान्त पंचवर्षीय योजनाओं की स्थापनाएं, बुनियादी उद्योगों की स्थापनाएं एवं हरित क्रांति जैसे घटकों के आधार पर विकास की नींव रखने वाले तथाकथित बुद्धिजीवियों ने हड़बड़ाहट में इकानामी एवं इकालाजी के सह–संबंधों को भूल जाने अथवा जानबूझकर इगनोर करने की प्रवृति के चलते, हमारे सम्मुख पारिस्थितिकी की विकट समस्या पैदा कर दी हैं। समझ से परे है कि विकास के नाम पर आदिवासियों को विस्थापित कर

उन्हें घुम्मकड़ की श्रेणी में ला खड़ा कर दिया है और द्रुतगति से वनों की कटाई करते हुए बड़े–बड़े बांधों का निर्माण करवा दिया है। यदि आदिवासियों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को भी दृष्टि में रखकर इन सभी योजनाओं का क्रियान्वित किया जाता, तो संभव है कि पर्यावरण की समस्या विकट नहीं होती और न ही प्रकोप होता, जैसा कि अभी हाल ही में आए प्राकृतिक प्रकोप ने उत्तराखण्ड को खण्ड–खण्ड कर दिया, उससे बचा जा सकता था।

एक स्थान से दूसरे स्थान पर विस्थापन न तो आदिवासियों को भाता है और न ही वन्य जीव–जन्तुओं को, लेकिन ऐसा बड़े पैमाने पर हो रहा है, इस पर अंकुश लगाए जाने की जरुरत है। अगर ऐसा नहीं किया गया तो निश्चित मानिए कि वनों का विनाश तो होगा ही, साथ ही पारिस्थितिकी असंतुलन में भी वृद्धि होगी। अगर एक बार संतुलन बिगडा तो सुधारे सुधरने वाला नहीं है। संविधान में आदिवासियों को यह वचन दिया गया है कि वे अपनी विशिष्ट पहचान को बनाए रखते हुए राष्ट्र की विकासधारा से जुड सकते हैं। अतः कड़ा निर्णय लेते हुए सरकार को आगे आना होगा, जिससे उनकी प्राकृतिक संस्कृति पर कोई प्रतिकूल असर न पड़ें।

विंध्याचल–हिमालय व अन्य पर्वत शिखर हमारी संकृति के पावन प्रतीक हैं। इन्हें भी वृक्षविहीन बनाया जा रहा है। क्योंकि वनवासियों को उनके अधिकरों से वंचित किया ज सके। इन पहाड़ियों पर पायी जाने वाली जड़ी–बूटियां, ईंधन, चारा एवं आवश्यक्तानुसार इमारती लकड़ी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती रहे। आदिवासियों को जंगल धरोहर के रुप में प्राप्त हुए थे, वे ही ठेकेदारों के इशारे पर जंगल काटने को मजबूर हो रहे हैं। यद्दपि पर्वतीय क्षेत्रों में अनेकों विकास कार्यक्रम लागू किए जा रहे हैं लेकिन उनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रुप से उन्हें फायद होने वाला नहीं है। आदिवासियों को संरक्षण प्राप्त नहीं होने से केवल वन संस्कृति एवं वन्य–जीव सुरक्षा का ही ह्रास नहीं हो रहा है बल्कि देश की अखण्डता को खंडित करने वाले तत्व अलग–अलग राज्यों की मांग करने को मजबूर हो रहे हैं। इन सबके पीछे आर्थिक असंतुलन एवं पर्यावरण असंतुलन जैसे प्रमुख कारण ही जड में मिलेंगे।

हम सब जानते हैं कि उनकी भूमि अत्यधिक उपजाऊ नहीं है और न ही खेती के योग्य है। फिर भी वे वनों में रहते हुए वन के रहस्य को जानते हैं और झूम पद्धति से उतना तो पैदा कर ही लेते हैं, जितनी कि उन्हें आश्यकता होती है। यदि इससे जरुरतें पूरी नहीं हो सकती तो वे महुआ को भोजन के रुप में ले लेते हैं या फिर आम की गुठलियों को पीसकर रोटी बनाकर अपना उदर–पोषण कर लेते हैं, लेकिन प्रकृति से खिलवाड़ नहीं करते। फिर वे हर पेड़–पौधे से परिचित भी होते हैं कि कौन सा पौधा किस बीमारी में काम में आता है, कौन सी जड़ी–बूटी किस बिमारी पर काम करती है इसको भी संरक्षित करते चलते हैं।

हमारे देश की अरण्य संस्कृति अपनी विशेषता लिए हुए थी, जो शनैः शनैः अपनी हरीतिमा खोती जा रही है। लाखों की संख्या में बेशकीमती पौधे रोपने के लिए दिए जाते हैं, लेकिन उसके आधे भी लग नहीं पाते। यदि लग भी गए तो पर्याप्त पानी और खाद के अभाव में मर जाते हैं। जब शहरों के वृक्ष सुरक्षित नहीं है तो फिर कोसो दूर जंगल में उनकी परवरिश करने वाला कौन है? हम अपने पड़ोस के देशो में जाकर देखें, उन्होंने प्रभावी ढंग से सफलतापूर्वक अनुकरणीय कार्य किया है और पेड़ की रक्षा करते हुए हरियाली को बचाए रखा है। जहां–जहां के आदिवासियों ने अपना स्थान छोड दिया है, वहां के वन्य–जीवों पर प्रहार हो रहे हैं, बल्कि यह कहा जाए कि वे लगभग समाप्ति की ओर हैं, उसके प्रतिफल हमें सूखा पडने या कहें अकाल पडने जैसी स्थिति की निर्मिति बन गई है। फिर सरकार को करोड़ रुपया राहत के नाम पर खर्च करने होते हैं।

जब आदिवासियों से वन–सम्पदा का मालिकाना हक छीनकर केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के हाथ में चले जाएंगे तो केवल विकास के नाम पर बड़े–बड़े बांध बांधे जाएंगे और बदले में उन्हें मिलेगा बांधो से निकलने वाली नहरें, नहरों के आसपास मचा दलदल और भूमि की उर्वरा शक्ति को कम करने वाली परिस्थिति और विस्थापित होने की व्याकुलता और जिन्दगी भर की टीस, जो उसे पल–पल मौत के मुंह में ढकेलने के लिए पर्याप्त होगी। आदिवासी

क्षेत्रों में होने वाले विध्वंस से जलवायु एवं मौसम में परिवर्तन द्रुत गति से हो रहा है। भारत का हृदय कहलाने वाले मध्यप्रदेश के छिन्दवाड़ा जिले से 62 किमी तथा तामिया विकास खंड से महज 23 किमी की दूरी पर, समुद्र सतह से 3250 फीट ऊंचाई पर तथा भूतल से 1200 से 1500 फीट गराई में कोट यानि पातालकोट स्थित है। जिसमें आज भी आदिवासियों के बारह गांव सांस लेते हुए देखे जा सकते हैं। यहां के आदिवासियों को धरती–तल पर बसाने के लिए कई प्रयत्न किए गए, लेकिन वे इसके लिए कतई तैयार नहीं होते। अतः यह दोषारोपण मढ़ना कि आदिवासियों की वजह से वन सुरक्षित नहीं है, एक मूर्खतापूर्ण लांछन है।

कभी भारत में 70 प्रतिशत भूमि वनों से आच्छादित थी आज घटकर 20–22 प्रतिशत रह गई है। वनों के लिए यह चिंता का विषय है। वनों की रक्षा एवं विकास के नाम पर पूरे देश में अफसरों और कर्मचरियों की संख्या में बेतरतीब बढ़ोतरी हुई हैं, उतने ही अनुपात में वन सिकुड़ रहे हैं। सुरक्षा के नाम पर गश्ति दल बनाए गए हैं, फिर भी वनों की अंधाधुंध कटाई निर्बाध गति से चल रही है। कारण पूछे जाने पर एक नहीं, वरन अनेकों कारण गिना दिए जाते हैं। उनमे प्रमुखता से एक कारण सुनने में आता है कि जब तक ये आदिवासी जंगल में रहेंगे, तब तक वन सुरक्षित नहीं हो सकते। कितना बड़ा लांछन है इन भोले–भाले आदिवासियों पर, जो सदा से धरती को अपनी मां का दर्जा देते आए हैं। रुखा–सूखा खा लेते हैं, मुफलिसी में जी लेते हैं, लेकिन धरती पर हल नहीं चलाते, उनका अपना मानना है कि हल चलाकर वे धरती का सीना चाक नहीं कर सकते।

आदिम समुदाय, जो सामाजिक विकास क्रम में आदिम अवस्था के अधिक निकट हैं, उनमें अब भी मातृसत्तात्मक परिवार पाए जाते हैं। जो कबीले मातृवंशीय हैं वे प्रायः मातृस्थानीय भी हैं, जहां पति परिवार का स्थायी या अस्थायी सदस्य होता है। पूर्वोत्तर के गारो कबीले में तो वह आगंतुक मात्र है, जो रात भर का मेहमान होता है। जिन मातृवंशीय और मातृस्थानीय कबीलों में मुखिया पुरुष है, उनमें भी स्त्री के अधिकारों और प्रतिष्ठा की दृष्टि से पितृवंशीय

और पितृस्थानीय कबीलों की अपेक्षा इनकी स्थिति प्रायः अच्छी है। कई पितृवंशीय कबीलों में भी नर और नारी का दर्जा लगभग समान है। बहुत सारे आदिम कबीलों में विवाह विच्छेद और पुनर्विवाह का नियम है और इस संबंध से स्त्री और पुरुष को प्रायः समान अधिकार हैं। मातृस्थानीय कबीलों में परिवार अधिक स्थायी दिखाई पड़ता है। यह रक्तसंबंधियों का नैसर्गिक समूह मालूम पड़ता है। पूर्वोत्तर के अनेक आदिवासी समुदायों में विवाह के बाद युवक को प्रायरू पांच वर्ष की अवधि तक ससुराल में रह कर यह सिद्ध करना पड़ता है कि वह गृहस्थी चलाने में सक्षम है।

आदिवासी समुदायों में लड़की को अपना पति चुनने की उतनी ही स्वतंत्रता होती है, जितनी लड़के को। सामूहिक जीवन और यौन शिक्षा के लिए 'घोटुल' जैसी प्रथाएं मध्य भारत के आदिवासियों में प्रचलित हैं, जहां युवक–युवती सामूहिक स्तर पर समान रूप से कुछ समय के लिए साथ–साथ जीवन गुजारते हैं। किसी कारण वश होने वाले पुनर्विवाह की दशा में भी स्त्री और पुरुष की इच्छा समान स्थान रखती है। परंपरा के स्तर पर आदिवासी समाज में दहेज प्रथा नहीं रही। यहां तो वर पक्ष द्वारा वधू पक्ष को कुछ न कुछ देना होता है। वर और वधू के बीच यहां विवाह पद्धति है, कोई 'कन्यादान' वगैरह नहीं होता। अगर कन्यादान कहा जाए तो साथ में 'वरदान' भी होता है। लड़की वालों के माथे पर लड़के वालों का कोई बोझ नहीं पड़ता।

आदिवासी समुदायों में स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप से श्रम करते हैं। स्त्री घर और बाहर के कामों में बराबर भागीदारी करती है। आदिवासी अंचलों के हाट–बाजारों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की भूमिका अधिक दिखाई देती है। परिवार और कबीलाई पंचायत के स्तर पर लिए जाने वाले फैसलों में स्त्री स्वर का सम्मान किया जाता है। पुरुष के पक्ष में जो भी बदलाव हमें दिखाई देते हैं, वे सब तथाकथित मुख्यधारा समाज के प्रभाव के कारण हैं, अन्यथा आदिवासी परंपरा में ऐसा नहीं होता रहा है। स्त्री और पुरुष संबंधों की पड़ताल करते वक्त हमें श्रम की महिमा को समझना होगा।

भारत की अधिकतर आदिवासी भाषाओं में कोई स्त्री–सूचक गाली नहीं है। हालांकि सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि आदिम समाजों में भी गालियां हैं, मगर उनके लिए दूसरे शब्द हैं। बाप–बेटे जैसे परिवार के सदस्यों के बीच झगड़ा हो जाने पर जब गुस्सा फूटता है तो एक जना पूरी तरह चुप्पी साध लेता है या घर से निकल जाता है। 'मेरी आंखों से दूर हो जा' या कि 'मेरे सामने कभी नहीं आना' जैसी प्रतिक्रिया व्यक्त कर देगा। झारखंड की खड़िया भाषा में सबसे बुरी गाली है 'तुझे बाघ खा जाए'। इसी तरह बस्तर में 'तुझे देवता उठा कर ले जाए'। क्रोध के उग्रतम आवेश में मारपीट या कत्ल जैसी घटनाएं भी हो सकती हैं, लेकिन स्त्री को लेकर गाली नहीं दी जाएगी।

भारत जैसे पुरुष वर्चस्ववादी गैर–आदिवासी समाज के सामने आज सबसे बड़ी चुनौती है लिंगानुपात के गड़बड़ाने की। भारत के जो प्रदेश भौतिक समृद्धि और शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान रखते हैं, उनमें प्रति एक हजार पुरुषों के बीच स्त्रियों का अनुपात क्रमशः दिल्ली 866, पंजाब 893 हरियाणा 877 और चंडीगढ़ 818 है। चारों राज्यों का औसत 863.5 प्रतिशत होता है। देश का कुल औसत एक हजार मर्दों पर 940 स्त्रियां हैं। आदिवासी बहुल प्रांतों में यह लिंगानुपात क्रमशः छत्तीसगढ़ 991, झारखंड 964, उत्तराखंड 963 और पूर्वोत्तर के आठों राज्यों का 950 है।

सामाजिक घटकों की दृष्टि से देखा जाए तो पता चलता है कि दलितों में यह अनुपात 945 का है और सवर्णों में प्रति एक हजार पुरुषों पर मात्र 937 स्त्रियां अस्तित्व में हैं। इससे भिन्न आदिवासी जनसंख्या में यह अनुपात 1000 रू 990 का है। स्पष्ट है कि लिंगानुपात की दृष्टि से भारत के विकसित इलाकों और तबकों की तुलना में आदिवासी समाज बहुत बेहतर दशा में है। यहां स्वाभाविक रूप से यह संदेह और प्रश्न उत्पन्न होता है कि भौतिक उन्नति और शिक्षा जैसे विकास के प्रतिमानों का मनुष्य की समझदारी के साथ क्या सामंजस्य है?

इसी प्रकार जब हम महिलाओं पर किए जाने वाले अपराधों का विश्लेषण कर सकते हैं। पिछले तीन सालों में सर्वाधिक वृद्धि

दिल्ली जैसे महानगरों में हुई है, जहां देश के सबसे अधिक पढ़े–लिखे और विकसित लोग निवास करते हैं। सबसे कम अपराध उन राज्यों में दर्ज हुए, जहां आदिवासी जनसंख्या की बहुलता है। महिला अत्याचारों के आंकड़ों पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि आदिवासी समाज की तुलना में सवर्ण या भद्र समाज में अत्याचार अधिक हैं। यहां उल्लेखनीय है कि अंडमान के द्वीप समूहों में आदिम कबीलों की भाषिक परंपरा में 'बलात्कार' या 'दुष्कर्म' जैसे शब्दों के समानार्थी हैं ही नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि ऐसी घटनाएं उनके समाज में घटित ही नहीं होतीं।

स्त्री की दशा को लेकर सबसे खतरनाक डायन प्रथा मानी जाती है। इस प्रथा को पूरी तरह आदिवासी समाज से जोड़ कर देखा जाने लगा है। ऐसा नहीं कि सारे आदिम समुदाय स्त्री की दशा को लेकर दूध के धुले हैं। ऊपरी हवा यानी भूत–प्रेत, जादू–टोना, देवात्मा का किसी व्यक्ति के शरीर में आ जाना जैसी कुप्रथाओं से संबंधित खबरें देखने–सुनने को मिलती रहती हैं।

भारत ही नहीं, इस प्रथा को वैश्विक संदर्भ में देखें तो ये तथ्य सामने आते हैं कि इसका अस्तित्व प्राचीन काल से संसार के अनेक भू–भागों में मिलता है। ओल्ड टेस्टामेंट में इसके लिए विधि प्रणाली तय की गई थी। कालांतर में चर्च की सहमति इस परंपरा को मिली थी। प्राचीन मध्य अफ्रीका, मिस्र, बेबीलोन के जीवन में इसके संदर्भ मिलते हैं। भारत में शाकिनी, डाकिनी, चुड़ैल और डायन जैसी संज्ञाएं इस परंपरा को दी गईं। वात्स्यायन के कामसूत्र में शाकिनी का जिक्र मिलता है। भगवान शिव के पौराणिक संदर्भों में शाकिनी, डाकिनी, पिशाचिनी, भैरवी, चंडिका, जोगिनी आदि नाम शक्ति की उपासना से संबंधित हैं। बौद्ध और जैन ग्रंथों में भी शकुनिका के नाम से स्त्री संबंधी इस मिथक को स्थान दिया गया है। इस तरह केवल भारत के आदिवासियों तक सीमित कर के इस इस प्रथा को नहीं देखा जाना चाहिए।

सही कहा है सिमोन द बोउआ ने कि 'स्त्री पैदा नहीं होती, उसे स्त्री बनाया जाता है।' पुरुषों को ऐसी असंभव इच्छा नहीं करनी चाहिए कि स्त्री को सत्रह साल की पैदा होना चाहिए और

हद से हद पैंतीस वर्ष की होने पर मर जाना चाहिए। स्त्रियां नन्ही बालिकाएं हुआ करती हैं। उनके कंधों पर पंख होते हैं। उन्हें उड़ने दो। उनके चेहरे पर हंसी होती है। उन्हें चहकने दो। स्त्रियां युवतियां हुआ करती हैं। उनकी गति में नृत्य और वाणी में गीत हुआ करते हैं। उन्हें नाचने और गाने दो। स्त्रियां पुरुष की हमसफर हुआ करती हैं। उन्हें साथी होने का सम्मान दो। स्त्रियां मानव प्रजाति के वंशों को जन्म देती हैं, इसलिए वे माताएं हुआ करती हैं। उन्हें गरिमा के साथ जीने दो। स्त्रियों को अप्सरा, गणिका, देवदासी, वेश्या, सती, कुलक्षणा, वैधव्य–कलंकिनी वगैरह पुरुषों ने बनाया है, स्वयं स्त्रियों ने नहीं। ●

● राजनीति के समान कोई दूसरा जुआ नहीं है। इसमें परिणाम के बारे में पहले से जान सकना बहुत कठिन है। –डिजरायली

● राजनीति को समझना आसान काम नहीं है। यह लगता है कि राजनीति कुछ मनुष्यों के लाभ के लिए बहुत से व्यक्तियों का उन्माद है। –एलेक्जेंडर पोप
लोगों को याद रखना चाहिए कि शांति ईश्वर प्रदत्त नहीं होती। यह वह भेंट है, जिसे मनुष्य को एक–दूसरे को देते हैं। –एली वाइजेला

● पहले हर अच्छी बात का मजाक बनता है, फिर उसका विरोध होता है और अंत में उसको स्वीकार कर लिया जाता है। –स्वामी विवेकानंद

● मूर्ख राजा अपनी प्रजा पर शासन करता है, चतुर राजा उसकी शक्ति और सामर्थ्य का लाभ उठाता है और ज्ञानी राजा उसे संतान करी तरह प्रेम करता है। –कल्हण
● कभी कोई इंसान बहुत आसानी से बहुत कुछ पा जाता है, जबकि किसी और को उतना ही पाने में बहुत कुछ देना पड़ता है। –अल्बर्ट आइंस्टाइन

● ईश्वर से जब हमें परेशानियां मिलती हैं, तब दरअसल वह हमें किसी अच्छी चीज के लिए तैयार कर रहा होता है। –हेनरी वार्ड बीचर

3

आदिवासी जीवनशैली

भारत में आदिवासी आदि–काल से ही अपनी परम्परागत जीवन–शैली के लिए जाने जाते हैं। इन्हें गिरिजन, वनवासी, जनजाति, अनुसूचित जनजाति आदि नामों से भी पहचाना जाता है। इनके निवास–स्थान प्रायः मूल आबादी से दूर हैं। ये या तो जंगलों में रहते हैं या घुमन्तू जीवन व्यतीत करते हैं। बहुत से आदिवासी आज खेती करने लगे हैं तो कई आज भी घुमक्कड़ जीवन व्यतीत कर खेल–तमाशे दिखाकर या व्यापार कर अपना जीवन–यापन करते हैं। कई आदिवासी आज भी आदिम जीवन जी रहे हैं। उदाहरण के तौर पर अंडमान–निकोबार द्वीप समूह के आदिवासियों को देखा जा सकता है।

मानव अपनी जीवन–शैली और संस्कार अपने परिवार और अपने समाज से सीखता है और उसकी वैचारिक शक्ति का विकास विद्यालय एवं विश्वविद्यालय में प्राप्त की जाने वाली शिक्षा से होता है। एक शिक्षित मनुष्य ही स्वयं को, अपने समाज और देश को भी विकास की बुलंदियों पर पहुँचाने की क्षमता रखता है। शिक्षा व्यवस्थित मानव–जीवन का आधार है। शिक्षा के द्वारा ही मानव अपने कर्तव्यों को समझ सकता है और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकता है।

जहाँ तक आदिवासियों की पारम्परिक शिक्षा का प्रश्न है, यह तय है कि आदिवासी बेहद मुश्किल परिस्थितियों के अनुरूप

खुद को ढाल पाने में सक्षम रहे हैं। आदिम युग से ही बेहद प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद स्वयं के अस्तित्व को बचाए रखना इतना आसान नहीं था। आदिवासी प्रकृति के बेहद निकट रहे हैं और इसके संरक्षक भी। बदलते मौसम, जंगल में पाई जाने वाली जड़ी–बूटियों, जंगली जानवरों एवं पक्षियों आदि के संबंध में इनकी ज्ञान–राशि अप्रतिम रही है। इनकी शिकार–कला, इनके नृत्य, इनकी समूह–भावना, स्त्री–पुरुष समानता आदि इनकी विरासतें रही हैं। इनके आतिथ्य–सत्कार की भावना, ईमानदारी, विश्वसनीयता आदि ऐसे गुण हैं जो इन्हें इनके परिवार और समाज से विरासत में मिले हैं।

आज भी आदिवासियों के निवास–स्थान समाज की मुख्य धारा से अलग–थलग पड़े हैं। इनके इलाके जंगलों के अलावा खनिज–सम्पदा से भी भरे पड़े हैं। इनके इलाकों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों एवं सरकारी विभागों के द्वारा भारी मात्रा में खनन कार्य करवाया जाता है जहाँ इन आदिवासियों को मजदूर के रूप में रखा जाता है। आज के इस तथाकथित भूमंडलीकरण के युग में इन आदिवासियों को चौतरफा मार झेलनी पड़ रही है।

भारत जैसे बड़े देश में करोड़ों लोग वनक्षेत्र में सदियों से निवास करते है। कुछ लोग उन्हें आदिवासी कहते है क्योंकि उनका मानना है कि आदिकाल में सबसे प्रथम जनजाति इन्हीं के समान थी। कालांतर में लोग विकसित होकर शहरों में बसते गए जबकि आदिवासी वैसे के वैसे ही रहे। हम इसे भ्रान्ति मानते है। इसलिए आदिवासी के स्थान पर वनवासी उपयुक्त शब्द है। भारत में अधिकांश आदिवासी समाज झारखण्ड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, बिहार, बंगाल और पूर्वोत्तर आदि राज्यों में रहते हैं। यह जनता अत्यंत निर्धन, शिक्षा, रोजगार, चिकित्सा आदि सुविधाओं से वंचित हैं। भारत का अभिन्न अंग होते हुए भी विकास से कोसों दूर है।

आदिवासियों की जीवनशैली काफी सरल होती है। वे प्रकृति के ज्यादा करीब हैं। प्रकृति से उनका रिश्ता मां–बेटे का है। वे प्रकृति से उतना ही लेते हैं, जितनी उन्हें जरूरत है। वे पेड़–पहाड़ को

देवता के समान मानते हैं। उनकी जिन्दगी प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर है। ये फलदार पेड़ व कंद–मूल उनके भूख के साथी हैं। वैसे जंगल और पहाड़ी प्रकृति प्रेमियों, फोटोग्राफरों और सैलानियों के आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। लेकिन ये ही वे इलाके हैं जहां आदिवासी समाज रहता है। इन्हीं जंगलों में रहने वाले आदिवासियों ने तमाम तरह के पेड़ पौधे और फलों, पत्तों के गुणधर्मों की खोज की है और उन्हें विकसित किया है। आदिवासियों की परंपरा, उनका रंग, उनकी भाषा प्रकृति को सम्मानित करता है। प्रकृति को सम्मान देकर जो विकास होता है, वही असली विकास है।

आदिवासी का सदियों से जंगल से गहरा रिश्ता रहा है। जंगल की हरी भरी गोद में रहकर उन्होंने पौधे और तमाम तरह की जड़ी बूटियों का व्याकरण सीखा और गढ़ा। जिसे वे आज भी स्थानीय स्तर पर औषधि के रूप में समुदाय के लोगों के इलाज करते हैं। आदिवासी जड़ी–बूटियों के इस्तेमाल से पहले इन्हें पूंजते हैं, ऐसी मान्यता है कि इससे जड़ी–बूटियों की असरकारक क्षमता दोगुनी हो जाती है। वहीं, इनकी जानकारी सार्वजनिक करने पर औषधि गुणों में कमी आ जाती है। आदिवासियों द्वारा एकत्र इन जड़ी–बूटियों और इनके बताए गए उपयोगों को आधुनिक विज्ञान भी तथ्यात्मक मानता है। इसी का परिणाम है कि आज जंगल की यह औषधि आदिवासियों के अलावा आम लोगों द्वारा भी उपचार में प्रयोग की जा रही है।

विभिन्न मानव सभ्यता इसी आदिवासी संस्कृति के पड़ाव को पार कर आधुनिकता के स्तर तक पहुंची है। आदिवासी समाज का अपना एक विशेष स्वभाव है। उनकी अपनी एक विशिष्ट जीवनशैली है जो प्रकृति पूजक के रूप में जल, जंगल, पहाड़ और जमीन से जुड़ी रही है। देश का संविधान भी इनके इस जुड़ाव के प्रति संरक्षण प्रदान करता है लेकिन आधुनिक समाज में ये स्वयं को पिछड़े हुए पाते हैं। इनका स्वभाव और संस्कृति कथित आधुनिक समाज के लोगों में कौतूहल पैदा करती है। समाज के वर्गो के स्वभाव का यह परस्पर अंतर इन्हें आज के कथित आधुनिक समाज से दूर खड़ा करता है।

प्रकृति से इनकी नजदीकी और मानव के मध्य एक बेहतर समन्वय को दर्शाता है। खेती के इनके तौर तरीके और जंगलों का संरक्षण इनकी परंपराओं में शामिल है जो पूरे विश्व के लिए अनुकरणीय बन सकता है। लेकिन हम इनकी पुरातन परंपराओं को भूलते जा रहे हैं। ऐसे में क्या इनकी परंपराएं और संस्कृति किताब और शोध का विषय ही रहे या व्यवहारिक धरातल पर भी दूसरों के काम आए।

आज जब पूरा विश्व वायुमंडलीय बदलाव और ग्लोबल वार्मिंग जैसी समस्याओं से जूझ रहा है तब हमें राज्य के आदिवासी समाज की जीवनशैली अपनी ओर खींचती है। तकनीक और विज्ञान से लैस आज का आधुनिक समाज आदिवासियों की परंपराओं और जीवनशैली को उत्सुकता की निगाह से देखता है। इसके लिए इनके व्यवहार और संस्कृति अब अप्रसांगिक हो चुकी है लेकिन सही मायनेमें आदिवासियों की विशिष्ट जीवनशैली ही है जो हमें प्रकृति के साथ एक तारतम्य बनाकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। इनकी परंपराओं में छिपे ज्ञान को बाहर निकालने की आवश्यकता है। आज समाज का हर वर्ग विकास की दौड़ में एक दूसरे से आगे निकलने की होड़ में है। इसी बीच एक सुदूर गांव का आदिवासी भी चाहता है कि वह भी समाज के अन्य वर्गो की भांति आगे आए।

आज आपाधापी और इस प्रतिस्पर्द्धा भरे युग में सरकार के लिए भी ये चुनौती है। इनकी परंपराओं और संस्कृतियों के संरक्षण के साथ साथ विकास के दौड़ में कैसे इनकी भी सहभागिता सुनिश्चित करे। कैसे इस समाज के युवाओं के लिए इनकी परंपराओं के अनुकूल विकास का माहौल तैयार करे। राज्य में लुप्तप्राय हो रहे जनजातियों की विशिष्ट जीवनशैली और परंपराओं को संरक्षण प्रदान करने के लिए भी इसे सामान्य जीवन में भी व्यवहार में लाना होगा। इनके खेती की पुरानी विधा, जंगलों में औषधीय पौधों की पहचान और उपयोग और जैविक खेती के कई तरीके आज भी अनूठी है। सरकार को इनके विकास की नीति इनके इन्हीं परंपराओं को ध्यान में रखकर तैयार करना चाहिए ताकि इनकी संस्कृति और परंपराओं का भी संरक्षण हो सके। हमें आदिवासियों

के विभिन्न स्तरों के अनुरूप उनके विकास का खाका खींचना होगा। विश्व की इस महान लोक संस्कृति को संरक्षित व संवर्द्धित करने के लिए एक सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है।

जंगल आदमी समेत कई जीव–जंतुओं को पालता पोसता है। ताजा हवा, कंद–मूल, फल, घनी छाया, ईंधन, चारा, और इमारती लकड़ी और जड़ी–बूटियों का खजाना है। हमारे जंगल जनविहीन नहीं है, यहां गांव समाज है। और ज्यादातर जंगलों में आदिवासी निवास करते हैं। उनके खानपान में जंगल से प्राप्त गैर खेती भोजन का बड़ा हिस्सा होता है। यह भोजन पोषक तत्वों से भरपूर होता है। इससे भूख और कुपोषण की समस्या दूर होती है। खासतौर से जब लोगों के पास रोजगार नहीं होता। हाथ में पैसा नहीं होता। खाद्य पदार्थों तक उनकी पहुंच नहीं होती। यह प्रकृति प्रदत्त भोजन सबको मुफ्त में और सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

आदिवासियों की भोजन सुरक्षा में जंगल और खेत–खलिहान से प्राप्त खाद्य पदार्थों को ही गैर खेती भोजन कहा जा सकता है। इनमें भी कई तरह के पौष्टिक पोषक तत्व हैं। यह सब न केवल भोजन की दृष्टि से बल्कि पर्यावरण और जैव विविधता की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। समृद्ध और विविधतापूर्ण आदिवासी भोजन परंपरा बची रहे, पोषण संबंधी ज्ञान बचा रहे, परंपरागत चिकित्सा पद्धति बची रहे, पर्यावरण और जैव विविधता का संरक्षण हो, यह आज की जरूरत है। इस दृष्टि से जंगल, आदिवासियों की जीवन शैली, उनकी परंपरागत खेती किसानी और जंगल का खानपान बहुत महत्व का है।

आधुनिक समाज की सोच ने जीवन को लाभ की वस्तु बना दिया है, लेकिन आदिवासियों के लिए जंगल एक पूरी जीवन शैली है। आजीविका का साधन है। संरक्षण के नाम पर संयुक्त वन प्रबंधन जैसे आधारहीन कार्यक्रम से वनों का संरक्षण तो कम हो रहा है, उल्टे तनाव बढ़ता जा रहा है। वन संरक्षण में आदिवासियों की दृष्टिकोण काफी महत्वपूर्ण है। जिस पर न तो अमल किया जा रहा है और न ही उसे मान्यता दी जा रही है। आदिवासियों की जीवनशैली, कार्यशैली में जंगल के दोहन का उनका तरीका

अलग है। अपने नियम कायदों से वे पुरखों के जमाने से जंगल बचाते आ रहे हैं। आदिवासी अपने जरूरत के अनुसार जंगल से जितना लेते हैं,बदले में उसे कुछ–न–कुछ देते हैं। इनकी इसी भावना और जंगल के प्रति उनके आदर से आज वन बचे हुए हैं। जंगल का उपयोग करने में आदिवासियों के तरीके और नियम से महसूस होगा कि वन संरक्षण में उनकी सोच कितनी टिकाउ और महत्वपूर्ण है।

घटते वन क्षेत्र से आज पूरी दुनिया चिंतित है। कोई ओजोन परत में छेद होने से, तो कोई जंगल में मौजूद प्रचुर जैव–विविधता के संरक्षण के लिए चिंतित है। लेकिन हजारों साल से वनों पर आश्रित आदिवासियों की चिंता इससे बिल्कुल अलग है। आदिवासी तो सिर्फ अपने अस्तित्व और आने वाली पीढ़ियों की खुशहाल जिंदगी के लिए जंगल बचाना चाहते हैं।

जंगल आदिवासियों का महज आर्थिक आधार ही नहीं है, बल्कि उनकी बीमारियों का पूरा इलाज भी जंगली जड़ी–बूटियों से ही होता है। बैगा आदिवासी देश भर में जड़ी–बूटी व वनौषधियों के सबसे अच्छे जानकार माने जाते हैं। उनका जंगल से जड़ी–बूटी निकालने के तरीके को जानने के बाद यह अहसास होता है कि जंगल के प्रति उनके मन में कितना आदर व संरक्षण करने की भावना है। आज दुर्भाग्य से आधुनिक समाज ने इस सोच को दरकिनार कर दिया है। बैगा आदिवासी जचकी (प्रसव) के दौरान कल्ले की छाल का उपयोग करते हैं। छाल निकालने के पहले वृक्ष को दाल, चावल का न्यौता देते हैं। फिर धूप से उसकी पूजा करते हैं और वनस्पति महाराज (वृक्ष)के लिए मंत्रोच्चारण करते हैं। इसके बाद एक बार में कुलहाड़ी के वार से जितनी छाल निकलती है, उतनी ही दवा के रूप में उपयोग करते हैं। जानकार बैगाओं के मुताबिक इस तरीके से काफी कम छाल निकलती है। वे मानते हैं कि अगर बिना किसी नियम के छाल निकाले जाएं, तो लोग मनमाने ढंग से छाल निकालने लगेंगे। इससे वन संपदा का नुकसान होगा। इसी तरह पेट–दर्द,उल्टी–दस्त व आंव के लिए महुआ का छाल और पंडरजोरी का छाल का इस्तेमाल होता

है। महुए के पेड़ से एक बार कुल्हाड़ी मारने पर और पंडरजोरी से तीन बार कुल्हाड़ी मारने पर निकली छाल, दवा के लिए उपयोगी मानी जाती है।

इसी तरह सिरदर्द (अधकपारी) होने पर तिनसा झाड़ की छाल का उपयोग किया जाता है। तिनसा वृक्ष छाल एक सम्पूर्ण विधि के तहत निकाली जाती है। सूर्योदय से पहले, शौच और पेशाब करने से भी पहले तिनसा की छाल निकालनी होती है। इसके लिए पेड़ से एक निश्चित दूरी बनाकर सांस रोककर एक पत्थर उठाते हैं और पेड़ के तीन चक्कर लगाकर उसे पेड़ पर तीन बार ठोंकते हैं। इसके बाद कुल्हाड़ी के एक बार से जितनी छाल निकलती है, उसे लेकर पुनरू जहां से पत्थर उठाते हैं, वहीं रखना होता है। इस बीच अगर सांस टूट जाए तो दवा बेअसर मानी जाती है। इस प्रक्रिया के चलते एक ही सांस में सारी गतिविधियों के कारण बहुत कम छाल निकल पाती है और पेड़ सुरक्षित रहता है। बैगा आदिवासी अलग–अलग बीमारियों में अलग–अलग छाल या जड़ का इस्तेमाल करते हैं और हर दवा निकलाने का उनका तरीका, नियम और विधि अलग–अलग होते हैं। लेकिन किसी भी जड़ या दवा निकलाने से पहले दाल, चावल का न्यौता देना, धूप से पूजा करना व वनस्पति महाराज की प्रार्थना करना नहीं भूलते है। गौरतलब है कि धूप से पूजा करने के पीछे बैगाओं की धारणा यह है कि इससे वृक्ष के दवा वाले गुण सक्रिय हो जाते हैं। कई जड़ियों के लिए नारियल, गांजा व शराब भी चढ़ाई जाती है। अगर इस प्रक्रिया को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो इसका दवा के गुण से सीधा संबंध नहीं निकलता, लेकिन आदिवासियों की सोच व दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न है। बैगा आदिवासियों का मत है जो जंगल दवा देकर हमारी जान बचाता है, तो हमारा फर्ज बनता है कि हम भी उस जंगल को कुछ दें। उनकी यही भावना जंगलों के संरक्षण का मुख्य आधार है।

अगर हम व्यापक दृष्टिकोण से देखें तो इस तरह के नियम से, जिनमें सांस रोकना, पत्थर उछालना, एक बार कुल्हाड़ी का वार करना, सूर्योदय से पहले दवा निकालना, सांस बंद कर

जड़ खोदना व निकालना आदि शामिल है, बहुत कम मात्रा से जड़ी–बूटियों का सीमित उपयोग किया जाए। अगर कोई चीज आसानी से मिलती है तो उसका जरूरत से ज्यादा दोहन होने और अंततः विलुप्त होने का खतरा हमेशा बरकरार रहता है।

जंगल से अपनी जरूरतों के लिए कड़े नियम–कायदे बनाना ही उसके संरक्षण का सिद्धांत है। ऐसा न होने पर आसानी से पूरा पेड़ काटकर छाल निकाली जा सकती है, लेकिन इससे जल्द ही बेशकीमती वनौषधियों का नाश हो जाता। इसी प्रकार बैगा आदिवासियों का वन्य प्राणियों के प्रति भी इसी तरह का सम्मान और श्रद्धा है। आज दुनिया भर में शेरों के संरक्षण के लिए तमाम प्रोजेक्ट चलाए जा रहे हैं, लेकिन संभवतः बैगाओं ने दुनिया में पहली बार बाघ संरक्षण नीति अपनाई है। अगर किसी बैगा पर शेर हमला कर दे तो माना जाता है कि उस व्यक्ति से कोई बड़ी गलती हुई है या उसने जघन्य पाप किया है, जिसका उसे दंड मिला है। ऐसे व्यक्ति की गलती को पूरा बैगा आदिवासी अपने समुदाय की गलती मानकर बाघ देव की पूजा करते हैं। फिर ऐसी गलती न दोहराने का संकल्प लेते हैं। उल्लेखनीय है कि जंगल महज आदिवासियों का आर्थिक आधार ही नहीं है, यह उनकी सामाजिक व धार्मिक पहचान भी है। आदिवासियों के देव स्थान, पूजा स्थान जंगलों में ही होते हैं। यहां तक की आदिवासियों का अराध्य देव दरअसल सागौन का वृक्ष है।

मध्य भारत के आदिवासी इलाकों में जहां–जहां जंगल और खेती से छेड़छाड़ नहीं की गई है वहां–वहां आदिवासी खेती से सालाना 350 से ज्यादा प्रकार की फसलें और जंगल से 450 से ज्यादा तरह के फल–सब्जी इक्ट्ठा कर लेते हैं। यही नहीं जंगल के बारे में जितना आदिवासी जानता है उतना और कोई नहीं। इस संकट से उबरने के लिए पर्यावरण, कृषि और खाद्य मंत्रालय को मिलकर नीतियां तय करनी होंगी। इस संकट की एक बड़ी वजह आदिवासियों का पलायन और खनन भी है। आदिवासी समाज में भुखमरी इसलिए बढ़ रही है क्योंकि आदिवासी को जिस जंगल से पोषक भोजन मिल रहा था अब वो जंगल वैसा नहीं रहा। अब

जंगल मानव निर्मित हो रहा है। जंगल से जैव विविधता भी खत्म हो रही है।

आदिवासियों के इस पोषक भोजन के मसले पर बात करें तो अनगिनत ऐसे खाद्य पर्दाथ हैं जो अब खत्म होने के कगार पर हैं। आदिवासी समुदायों द्वारा की जाने वाली खेती पूरी तरह से आदिम खेती थी। आदिवासी बच्चों को उस भोजन के फायदे बताए जाएं, जो खत्म हो रहे हैं और उसकी खेती कायम रखने के लिए सुविधाएं उपलब्ध करवाई जा रही हैं। जैसे ओडिशा के रायगढ़ में कोदो, सांवा (चावल), कंगनी (खीर वाला चावल) की पैदावार बहुत कम चुकी है। आंध्र प्रदेश की आदिवासी महिलाओं का है कि यहां से काला चावल, मिट्टू पाड़ी (लाल चावल) खत्म हो रहा है। सुंकरा जिसे गुड़ के साथ मिलाकर मिष्ठान बनाया जाता है, वह लगभग खत्म हो चुका है। इसमें बड़ी मात्रा में लौह तत्व होते हैं। एक प्रकार की जड़ नागली दुंजा ओलूओ (जंगली सब्जी) और सिमुली भी खत्म होने के कगार पर हैं। क्योंकि जैववविधिता खत्म हो रही है। जमीनों के आकार छोटे होना भी इस संकट की वजह है।

झारखंड के पहाड़िया, मध्य प्रदेश के बैगा या कोरकू कोई भी हों वे बकरे, खरगोश, जंगली मुर्गा, केकड़ा, मछलियां, तीतर, होल्गी आदि का मांस खाते हैं। लेकिन अब ये चीजें भी उन्हें उपलब्ध नहीं हो पा रही हैं। इसके अलावा इनके घर कुल्हाड़ी, दूध एवं दही रखने के लिए दोहनी, रोटी बनाने के लिए कयड़ी या लोयटी, ऊखल, मूसल, टोकनी, चक्की, अनाज मापने के लिए पाई या कुड़ा, अनाज रखने के लिए मिट्टी या बांस की कोठी, आदि सब रहती थी। खेती से उपज कम होने और साल भर की खाद्य सुरक्षा न होने से इन आदिवासी समुदायों को अपने गांव से दूर जाकर सालाना आधार पर मजदूरी करनी पड़ रही है। जिसकी वजह से ये खालस दूध उत्पादों से भी वंचित होते जा रहे हैं। इन सबका असर इनके बच्चों पर भी पड़ रहा है।

भारत में बच्चों की कुल आबादी में से 5 वर्ष से कम उम्र के 1.5 करोड़ बच्चे आदिवासी हैं। इनमें से 54 फीसदी कुपोषण का शिकार हैं। कारण है कि जिन जंगली फल–सब्जियों का सेवन वे

सदियों से कर रहे थे, जिनसे इन्हें पोषत तत्व मिलते थे, अब वे इन्हें नहीं मिल रहे हैं। बाजरे की परंपरागत किस्म, गोंदली, सांवा, कंगनी, कोदो, केसू, काला चावल, लाल चावल ये सभी परंपरागत चावल की किस्में हैं। नाजा, ओलुओ, नाजा बीची, सुंकरा, मंडिया, सलहार, ज्वार, बाजरा, मक्का, काला मक्का, रमतीला, जगनी, बेड़ाली माकड़ी, बनकुंदरी, काकरोल, तीसो (सब्जियां), कोनार साग और पेड़ों पर लगाने वाला हरा साग भी खत्म हो रहा है।

जंगल की नीतियों में बदलाव और बाजार की नीतियों का असर आदिवासियों की आबादी पर दिखाई पड़ने लगा है। देश में पांच वर्ष से कम उम्र के 1 करोड़ 1 लाख किसी तरह अपनी परंपरा को कायम रखने वाला दूरदराज घने जंगलों और पहाड़ों में बसा आदिवासी समुदाय अब आधुनिक बाजार व्यवस्था से अनजान नहीं रहा। अब ये लोग मिश्रित फसलों की बजाय नकदी लाभ वाली फसलों की खेती करने लगे हैं। पहले इनकी अपनी फसलें, जंगल से आने वाली अपनी फल–भाजियां थीं लेकिन हैरानी की बात है कि खत्म होने के कगार पर इनका परंपरागत जंगली भोजन अब नुमाइश में रखा जाने लगा है। जंगली भोजन को रोमांटिक और अनोखा भोजन बताकर शहरवासियों को न परोसा जाए। इसे गंभीरता से लिया जाना चाहिए, अब यह किसी के जीने–मरने का सवाल है।

धीरे–धीरे आदिवासी भोजन खत्म होने की कगार पर पहुंच रहा है। परंपरागत आदिवासी भोजन न मिलनेकी वजह से 54 फीसदी आदिवासी बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। यूनिसेफ और आदिवासी मामलों के मंत्रालय की संयुक्त पड़ताल में सामने आया है कि इसकी मुख्य वजह जंगल संबंधी नई नीतियां हैं, जिनके चलते आदिवासियों को उनके परंपरागत एवं पोषक भोजन से दूर कर दिया गया। अब आदिवासी समाज के सामने जीने–मरने की स्थितियां सामने आने लगीं हैं तो आदिवासी समाज का कहना है कि उन्हें पंजाब–हरियाणा के सब्सिडीयुक्त चावल की बजाय उनके अपने जंगल का भोजन दिया जाए।

आदिवासी इलाकों में स्थानीय जल, जंगल और जमीन के

जरिये खाद्य और पोषण की जरूरतें पूरी होती रही हैं। स्थानीय ग्रामीण जनजातीय समुदायों के लिए जल, जंगल, जमीन उनकी खाद्य सुरक्षा और जीवन का आधार रहा है। लंबे समय से जंगल के अंदर रहने वाले समुदायों की जमीन और जंगल पर आश्रित आजीविका दोनों संकट में है। कुछ साल पहले तक इन इलाकों में कुपोषण से मौतें नहीं होती थी। लेकिन आज यहां स्थितियां गंभीर है। इन आदिवासी इलाकों में सिंचाई की सुविधाएं नहीं हैं। जमीन ऊंची–नीची और पहाड़ी है। इन असिंचित इलाकों में रागी, कोदो, कुटकी, सांवा, दलहन जैसे मोटे अनाजों की फसलें उगाई जाती हैं। आहार विशेषज्ञ इन अनाजों को भोजन में शामिल करने की सलाह आज दे रहे हैं, जबकि आदिवासी समाज इनका सेवन सदियों से कर रहा है। जिसकी बदौलत हमेशा स्वस्थ रहता था। खेती के अलावा पूरे साल की खाद्य सुरक्षा भी निश्चित कर ली जाती थी। अब जंगल आधारित वस्तुएं 75 प्रतिशत से अधिक कम हो गई है। जिसका नतीजा है कि आदिवासी समुदायों में पोषण आहार की कमी हो रही है और कुपोषण एवं रोगों का फैलाव हो रहा है। ●

● हर दिन हर रास्ते पर मुझे अच्छा ही अच्छा मिलता रहा। लेकिन यह तभी हुआ जब मैंने इसके लिए जीचोड़ प्रयास किया। –एमिली कू

● कभी–कभी जब आप अच्छा पाने के लिए बदलाव चाहते हैं तो चीजें आपको अपने हाथ में लेनी पड़ती हैं। –क्लिंट फास्टवुड

● किसी चीज को पाकर खुश हो जाना ही अच्छा नहीं है। यह भी जानना जरूरी है कि उसे पाया किस तरह गया है। –टाल्सटॉय

● अगर आपको लगता है कि किसी को आपके जीने–मरने की परवाह ही नहीं है तो जरा अपनी कार की दो–तीन किस्तें बंक मार कर देखिए। –अर्ल विल्सन

4

आदिवासी समाज की समस्याएं

हजारों वर्षों से जंगलों और पहाड़ी इलाकों में रहने वाले आदिवासियों को हमेशा से दबाया और कुचला जाता रहा है जिससे उनकी जिन्दगी अभावग्रस्त ही रही है। इनका खुले मैदान के निवासियों और तथाकथित सभ्य कहे जाने वाले लोगों से न के बराबर ही संपर्क रहा है। केंद्र सरकार आदिवासियों के नाम पर हर साल हजारों करोड़ रुपए का प्रावधान बजट में करती है। इसके बाद भी उनकी आर्थिक स्थिति, जीवन स्तर में कोई बदलाव नहीं आया है। स्वास्थ्य सुविधाएं, पीने का साफ पानी आदि मूलभूत सुविधाओं के लिए वे आज भी तरस रहे हैं।

सभी बातों को जानने के बावजूद आदिवासियों की समस्या को तय कर पाना कतई आसान नहीं है। हर क्षेत्र की परिस्थितियां अलग–अलग हो सकती है, जैसे कि कई क्षेत्रों के आदिवासी बिना मूलभूत सुविधा के ही संतुष्ट हों तो कहीं इन सब की दरकार भी हो सकती है। कहने का अर्थ यह है कि समस्या अलग–अलग क्षेत्रों में रह रहे आदिवासियों की भिन्न–भिन्न हो सकती है। वैसे सामान्यतः ऐसा होता नहीं है क्योंकि आदिवासी समाज की अपनी एक पहचान है जिसमें उनके रहन–सहन, आचार–विचार एक जैसे ही होते हैं। इधर बाहरी प्रवेश, शिक्षा और संचार माध्यमों के कारण

इस ढांचे में भी थोड़ा बदलाव जरूर आया है। विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों की समस्या थोड़ी बहुत अलग हो सकती है किन्तु बहुत हद तक यह एक समान ही होती है। वैसे वर्षों से शोषित रहे इस समाज के लिए परिस्थितियां आज भी कष्टप्रद और समस्यायें बहुत अधिक हैं। ये समस्यायें प्राकृतिक तो होती ही है साथ ही यह मानवजनित भी होती है।

आदिवासियों के लिए ऋणग्रस्तता की समस्या सबसे जटिल है जिसके कारण जनजातीय लोग साहूकारों के शोषण का शिकार होते हैं। आदिवासी लोग अपनी गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी तथा अपने दयनीय आर्थिक स्थिति के कारण ऋण लेने को मजबूर होते हैं, जिसके कारण दूसरे लोग इनका फायदा उठाते हैं। किस तरह ठेकेदारों तथा अन्य लोगों से सीधे संपर्क के कारण समस्त भारतीय जनजातीय जनसंख्या ऋण के बोझ से दबी हुई है। अध्ययनों तथा प्रमाणों से यह स्पष्ट पता चलता है कि ठेकेदारों तथा अन्य लोगों के द्वारा इनके क्षेत्रों में हस्तक्षेप से पूर्व ये जनजातियां इतनी दुर्बल, निर्धन तथा विवश नहीं थीं। ये लोग आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर थे। वन सम्पदा पर इनका अधिकार था। समय के साथ–साथ ये जनजातियां कठिन स्थितियों में पहुंच गयीं।

जल, जंगल, जमीन की लड़ाई लड़ने वाले आदिवासियों को अपनी भूमि से बहुत लगाव होता है। जबकि जनसंख्या वृद्धि के कारण भूमि की मांग में वृद्धि हुई है। साथ ही संचार व्यवस्था का विस्तार होने से समस्त जनजातीय क्षेत्र बाहरी लोगों के लिए खुल गया है। बाहरी वर्ग के कारण भूमि अधिग्रहण काफी हुआ है। आदिवासियों की जमीन पर अब वह खुद मकान बना कर रह रहे हैं, कृषि के साथ–साथ वह यहाँ व्यवसाय भी कर रहे हैं। भूमि हस्तांतरण एक मुख्य कारण है जिससे आज उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय हुई है। सीमित संसाधनों में रहने वाले आदिवासियों को आज विवाह, उत्सवों, कपड़ों, मदिरा तथा अन्य आवश्यकताओं के लिए सदैव धन की आवश्यकता रहने लगी है। कृषि भूमि भी कम उपज वाली होने के कारण इन्हें खाने की सामग्री भी बाजार से खरीदनी पड़ती है। यहां देखने वाली बात यह है कि पैसों के

अभाव में ये साहूकारों और दुकानदारों से ऋण लेते हैं और बाद में वही कर्ज चुकता नहीं कर पाने के कारण उन्हें अपनी भूमि से हाथ धोना पड़ता है, यही वजह है कि भूमि हस्तांतरण का एक मुख्य कारण ऋण भी है।

ऋणग्रस्तता हो या भूमि हस्तांतरण सभी के पीछे गरीबी ही मुख्य कारक है। पूरे भारत के लिए गरीबी एक अभिशाप है, हमारे यहां गरीबी का स्तर यह है कि बहुत से लोगों को बमुश्किल एक वक्त का ही भोजन नसीब हो पाता है। यह हालात अनुसूचित जनजातियों के लिए और भी सोचनीय है। निश्चित रूप से कहीं न कहीं आदिवासी समस्याओं का महत्वपूर्ण तत्व गरीबी से जुड़ा है।

देश में 'गरीबी हटाओ' जैसे कार्यक्रम भी बने, मगर उसका क्रियान्वयन ठीक से नहीं हो पाया। केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने भी गरीबी कम करने के लिए कई योजनाएं चलाई किन्तु उसे भी पूर्ण रूप नहीं दिया जा सका। साथ ही आदिवासियों से जंगलों के वन–उत्पाद संबंधित उनके परम्परागत अधिकार पूरी तरह से छिन लिए गए। जनजातियों की अच्छी उपजाऊ जमीनें बाहरी लोगों के हाथ में चली गई। सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी दर उन्हें मजदूरी करने के बाद भी प्राप्त नहीं हो पाती है, जिससे उनकी गरीबी कम होने की जगह बढ़ी ही है। गरीबी की इस स्थिति के लिए बहुत से कारण जिम्मेदार हैं जिसमें आदिवासी तो हैं ही पर देश के सामाजिक और राजनीतिक हालात उससे कहीं ज्यादा इसके लिए दोषी हैं।

अशिक्षित और कम शिक्षित होने के कारण इनके रोजगार के साधन भी सीमित ही है। सरकार के द्वारा इनके लिए कई योजना चलाई जा रही है, किन्तु वह भी अपर्याप्त है। रोजी–रोटी कमाने के कम साधन के कारण इनमें असंतोष का भाव पैदा हो रहा है। आदिवासी हमेशा से दूर–दराज के क्षेत्रों में मुख्य धारा के लोगों से दूर रहे हैं, किन्तु इधर बाहरी लोगों के प्रवेश के कारण आज उनकी उपजाऊ जमीन खुद उनकी नहीं रही। साथ ही जंगलों पर अपना अधिकार समझने वाले आदिवासियों का इनपर भी अब कोई अधिकार नहीं रहा।

आम तौर पर उनका स्वास्थ्य बढ़िया होता है पर कम पढ़े–लिखे होने के कारण और जागरूकता के आभाव में अक्सर आदिवासी अपने स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान नहीं दे पाते हैं। आदिवासियों की एक समस्या स्वास्थ्य भी है। साथ ही दूर–दराज के क्षेत्रों में स्वास्थ्य सुविधा की कमी के कारण उनको काफी असुविधा का सामना करना पड़ता है। कभी–कभी तो हालात काफी मुश्किल हो जाते हैं और तब अस्पताल के अभाव में इनके जीवन–मृत्यु तक बात पहुंच जाती है।

अधिकांशतः आदिवासी मदिरा का निर्माण स्वयं करते हैं। मदिरा बनाने के लिए वह महुए के फल को इस्तेमाल में लाते हैं। मदिरापान सदियों से उनकी सामाजिक परम्परा का भाग रहा है। आदिवासी महुए के अलावा बाजरे और चावल से भी मदिरा का निर्माण करते हैं। आदिवासियों में मदिरापान काफी लोकप्रिय है। चाहे वह अपने प्रमुख पेशे के रूप में हो या सेवन के लिए। आदिवासियों के पास अपनी बनाई मदिरा पर्याप्त मात्रा में होने के बावजूद सरकार द्वारा लाइसेंस प्राप्त ठेकेदारों द्वारा बाहरी मदिरा के विक्रय ने आदिवासियों को बहुत सी समस्याओं में उलझा दिया है। मदिरा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा बाहरी असामाजिक तत्व इन पिछड़े समुदायों के बीच पहुंचकर आपत्तिजनक कार्य करते हैं। साथ ही इसके लत में पड़कर आदिवासी अपने को आर्थिक रूप से और भी कमजोर करते हैं।

आदिवासी समाज का शिक्षित न होना बहुत बड़ी समस्या है। आदिवासी समाज का शिक्षा से कम सरोकार होना उनके कई समस्या से जुड़ा हुआ है। ऋणग्रस्तता, भूमि हस्तांतरण, गरीबी, बेरोजगारी, स्वास्थ्य आदि कई समस्यायें हैं जो शिक्षा से प्रभावित होती हैं। जनजातीय समूहों पर औपचारिक शिक्षा का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। संविधान के प्रभावी होने के पश्चात अनुसूचित जनजाति के लोगों के शिक्षा स्तर में वृद्धि करना केन्द्र तथा राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व हो गया है। सरकार के इस पक्ष के अलावा भी कुछ दूसरे पक्ष हैं जिस पर सरकार को सोचने की बहुत जरूरत है। पूर्वोतर के राज्यों को छोड़ कर अभी तक पश्चिम

बंगाल के अलावा किसी भी अन्य प्रदेश में आदिवासियों को उनकी मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा नहीं दी जाती है। ऐसे में यह समाज कैसे विकसित होगा जिसे अपनी मातृभाषा से ही दूर रखा गया हो। अगर हम अविभाजित बिहार की बात करें तब राज्य सरकार ने जिसमें झारखंड भी शामिल था, बरसों पहले आदिवासियों को मातृभाषा में पढ़ाने का कानून बना दिया था। राजनीतिक स्वार्थवश इस पर आगे कार्य नहीं हो सका और आज झारखंड के अलग होने के बाद भी प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में देने का प्रावधान लागू नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में जनजातीय लोग देश के अन्य लोगों से बहुत पीछे रह जाते हैं। हमें इस स्थिति का विश्लेषण करना चाहिए। शिक्षा प्राप्त कर लेना ही विकास का प्रभावी मापदंड नहीं होना चाहिए।

गैर आदिवासी लोगों के बसने के कारण उनकी भाषा भी छिन रही है क्योंकि उनकी भाषा समझने वाला अब कोई नहीं है। जिन लोगों की भाषा छिन जाती है उनकी संस्कृति भी नहीं बच पाती। उनके नृत्य को अन्य लोगों द्वारा अजीब नजरों से देखे जाते हैं इसलिए वे भी सीमित होते जा रहे हैं। जहां उनका 'सरना' नहीं है वहां उनपर नए–नए भगवान थोपे जा रहे हैं। उनकी संस्कृति या तो हड़पी जा रही है या मिटाई जा रही है। हर धर्म अपना–अपना भगवान उन्हें थमाने को आतुर है। हिंदुत्ववादी लोग उन्हें मूलधारा यानी हिंदुत्व की विकृतियों और संकीर्णताओं से जोड़ने पर तुले हैं और उनको रोजी–रोटी के मुद्दे से ध्यान हटा कर अलगाव की ओर धकेला जा रहा है।

आज के परिवेश में ये मानी हुई बात है कि किसी भी क्षेत्र के विकास में संचार व्यवस्था का होना अत्यंत आवश्यक है। सदियों से आदिवासी समाज के लोग घने जंगलों और दूरवर्ती क्षेत्रों में रहते आए हैं, जहां आम लोगों का पहुंचना बहुत ही मुश्किल होता है। यही कारण है कि वहां संचार माध्यम की कमी है। आज जिस समाज में टेलीविजन, समाचारपत्र, रेडियो तथा टेलीफोन जैसे संचार माध्यम का अभाव हो वहां का विकास स्वतः ही धीमा पड़ जाता है। यहां कमी सरकार के स्वयं प्रयास की भी है जिन्होंने

इन बातों पर प्रभावी ढंग से विचार नहीं किया। इधर कुछ सालों से आदिवासी क्षेत्रों में संचार माध्यमों का विकास बहुत तेजी से हुआ है, किन्तु वह पर्याप्त नहीं है। अगर आदिवासी क्षेत्र की बात करें तो जब वहां बिजली ही नहीं है, वहां हम टेलीविजन की कल्पना कैसे करें? समाचारपत्रों की बात तो बहुत दूर की है। इसी से आदिवासी क्षेत्रों के विकास की स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है! कारण शिक्षा और जागरूकता की कमी है। यहां रेडियो तो है पर उन्हें समाचारों से कोई मतलब ही नहीं है। टेलीफोन और मोबाइल की तो बात ही करनी बेईमानी है, जहां खाना ही काफी मुश्किल से मिल पाता हो वहां कोई मोबाइल रखे तो कैसे?

आज हम भले ही कितना भी क्यों न कह लें कि आदिवासी क्षेत्रों में संचार माध्यमों का विकास बहुत तेजी से हुआ है, किन्तु हकीकत है कि संचार माध्यमों का विकास कुछ ही प्रतिशत तक सीमित है और उसकी भी क्या सार्थकता है इसे समझने की जरूरत है। जनजातियों के लिए सड़कें सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं पर इसी के बन जाने मात्र से ही विकास संभव नहीं है। सरकार को चाहिए कि वह संचार माध्यम से होने वाले विकास के प्रति आदिवासियों को जागरूक करें और साथ ही इसके विपरीत पड़ने वाले प्रभाव के प्रति भी उन्हें सचेत रखें।

आदिवासी समाज की कई समस्यायें हैं जो उनके अस्तित्व और उनकी पहचान के लिए खतरनाक है। आज बड़े ही सूक्ष्म तरीके से इनकी पहचान मिटाने की राजनीतिक साजिश चल रही है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि आज भी विमुक्त, भटकी बंजारा जातियों की जनगणना नहीं की जाती है। तर्क यह दिया जाता है कि वे सदैव एक स्थान पर नहीं रहते। आदिवासियों की ऐसी स्थिति तब है जबकि भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने आदिवासी को भारत का मूल निवासी माना है लेकिन आज वे अपने ही देश में परायापन, तिरस्कार, शोषण, अत्याचार, धर्मान्तरण, अशिक्षा, साम्प्रदायिकता और सामाजिक एवं प्रशासनिक दुर्दशा के शिकार हो रहे हैं। आदिवासी वर्ग की मानवीय गरिमा को प्रतिदिन तार–तार किया जा रहा है। मीडिया भी इस पर बहुत

ज्यादा भूमिका में नहीं है। कभी–कभी खानापूर्ति के लिए मीडिया में इन समस्याओं को जरूर उठा दिया जाता है किन्तु आमतौर पर जनांदोलन को दिशा देने वाली मीडिया इस पर चादर ढकने का ही काम करती है। हजारों आदिवासी दिल्ली या अन्य जगहों पर रोजगार के लिए बरसों से आते–जाते हैं पर उनका आंकड़ा भी जनगणना में शामिल नहीं किया जाता है, न ही उनके राशन कार्ड बनते हैं और न ही वे कहीं के वोटर होते हैं। अर्थात इन्हें भारतीय नागरिकता से भी वंचित रखा जाता है। आदिवासियों की जमीन तो छीनी ही गई उनके जंगल के अधिकार भी छिन गए।

भारत की एक तिहाई आबादी गरीबी रेखा के नीचे है। उस आबादी को दो जून का सन्तुलित भोजन भी उपलब्ध नहीं है, खासकर यह स्थिति आदिवासी इलाकों में और भी भयभीत करती है। जिनमें ऋणग्रस्तता, भूमि हस्तांतरण, स्वास्थ्य आदि जैसी समस्याएं हैं उनके मूल में आदिवासी समाज की एक और समस्या गरीबी ही है जो सही अर्थों में बेरोजगारी से जुड़ा हुआ है। सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि मीडिया में आदिवासी समाज या ग्रामीण इलाकों की समस्याओं को कितनी जगह मिल पाती है? मीडिया लोगों तक पहुंचने और उनके विकास के लिए काफी प्रभावशाली माध्यम माना जाता है। किन्तु आज के समय में मीडिया को भी बाजारवाद के चलन ने प्रभावित किया है। समाचारों में आज गांवों और आदिवासी समाज की खबरें नगण्य रहती है। मीडिया को आज और भी ज्यादा प्रखर होने की आवश्यकता है। अगर समय रहते इसका समाधान नहीं हुआ तो विकास की सारी उपलब्धियां बेकार साबित होंगी। यह समस्या जितनी सरकार के लिए महत्वपूर्ण है उतनी ही यह मीडिया के लिए भी है। गरीबी और बेरोजगारी किसी विशेष समाज तक ही सीमित नहीं रह सकती बल्कि यह पूरे देश से जुड़ा मसला है। इस समस्या के साथ सामाजिक–आर्थिक विकास के सारे महत्वपूर्ण सवाल जुड़े हुए हैं। इसके प्रति मीडिया को गंभीर होने की जरूरत है साथ ही इन समस्याओं को उठाने और इसका बेबाक विश्लेषण इस तरह से करना चाहिए कि जनता इसके मर्म को आसानी से समझ सके।

आदिवासियों की समस्याओं को मीडिया क्यों नहीं प्रस्तुत करता तो उसके जवाब में मीडिया संस्थानों द्वारा स्पष्टीकरण दिया गया कि मीडिया में आदिवासियों पर खबरें आनी अब तो शुरू ही हुई हैं, पहले तो खबरें आती ही नहीं थीं, उस समय मीडिया जंगलों में जाता ही नहीं था। आज मीडिया खबर प्रधान हुआ है, वह लालायित रहता है कि कोई सनसनीखेज खबर मिले तो उसकी टीआरपी बढ़े। पिछले दशक में दूरदर्शन का तेजी से प्रसार हुआ है फिर जितना व्यापक क्षेत्र आकाशवाणी का है उतना किसी माध्यम का नहीं है। आकाशवाणी ने व्यापक स्तर पर सामाजिक और आर्थिक विकास की दिशा में योगदान दिया है जिसमें आदिवासी मुद्दों से जुड़े कार्यक्रम भी आयोजित किये जाते रहे हैं और इस समाज की समस्याओं को भी उठाया गया है। इसके लिए आकाशवाणी ही सबसे बेहतर विकल्प है क्योंकि टेलीविजन सशक्त माध्यम तो है मगर भारत जैसे देश में आज भी अधिकांश आदिवासी इलाकों में बिजली नहीं है। समाचार पत्रों को पढ़ने के लिए उसकी उपलब्धता और लोगों का शिक्षित होना जरूरी है।

आदिवासी समाज के विकास में मीडिया की भूमिका क्या होनी चाहिए। आज इस पर चिंतन करने की आवश्यकता है। सत्य तो यह है कि आज के समय में हम मीडिया की भूमिका और उसके प्रभाव को नकार नहीं सकते। मीडिया का प्रभाव हर जगह किसी न किसी रूप में पड़ता ही है। इस दायित्व को मीडिया के माध्यम से ही पूरा किया जा सकता है। पत्र पत्रिकाओं सम्पादक, संवाददाता वैसे अविकसित क्षेत्रों में जाये जहां विकास की शुरूआत ही नहीं हुई है। वहां के सभी पक्षों का अध्ययन करके समाज और सरकार को बतायें कि वहां विकास कैसे किया जा सकता है। आदिवासियों की की मूलभूत आवश्यकताएं क्या हैं? ●

5

आदिवासी विकास और प्रतिरोध

आदिवासियों का पलायन और विस्थापन सदियों से होता रहा है और ये आज भी जारी है। आदिवासियों के जंगलों, जमीनों, गाँवों, संसाधनों पर कब्जा कर उन्हें दर–दर भटकने के लिए मजबूर करने के पीछे मुख्य कारण हमारी सरकारी व्यवस्था रही है। वे केवल अपने जंगलों, संसाधनों या गाँवों से ही बेदखल नहीं हुए बल्कि मूल्यों, नैतिक अवधारण ाओं, जीवन–शैलियों, भाषाओं एवं संस्कृति से भी वे बेदखल कर दिए गए हैं।

हमारे मौलिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत सभी को विकास का समान अधिकार है। आजादी के बाद आदिवासियों को मजबूरन विस्थापित होना पड़ा। विकास के नाम पर लाखों लोगों को अपनी रोजी–रोटी, काम–धंधों तथा जमीनों से हाथ धोना पड़ा। उनको मिलनेवाले मूलभूत अधिकार जो उनकी जमीनों से जुड़े थे वे भी उन्हें प्राप्त नहीं हुए। आदिवासियों के प्रति सरकार तथा तथाकथित मुख्यधारा के समाज के लोगों का नजरिया कभी संतोषजनक नहीं रहा। आदिवासियों को सरकार द्वारा पुनर्वसित करने का प्रयास भी पूर्ण रूप से सार्थक नहीं हो सका। अन्ततः अपनी ही जमीनों व संसाधनों से विलग हुए आदिवासियों का जीवन मरणासन्न अवस्था

में पहुँच गया। आज हमारे देश का आदिवासी समाज जहां विकास की बाट जोह रहा है। वहीं दूसरी तरफ सरकार की उदासीन नीतियों के कारण उनकी स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है। विकास के नाम पर छले जा रहे आदिवासियों के पलायन और विस्थापन आज भी लगातार धड़ल्ले से जारी है। एक तरफ पूंजीपतियों को हमारे राज्यो में आमंत्रित करके उद्योग लगाने हेतु प्रेरित करते हैं, दूसरी तरफ विस्थापन की बात करते है और जितनी भी परियोजनाओ में विष्थापन हुआ है जरा वहां जाकर शासन पता तो लगाये कि वो जी रहे हैं या मर रहे हैं। जितनी भी मुलभूत सुविधाएं देने का वादा किया गया था उन्हें दूर करना तो दूर की बात वहां जाकर देखा तक नहीं।

आदिवासी को सहज ही असभ्य और बर्बर समझ लिया जाता है। उसकी सभ्यता और संस्कृति को ना तो समझने की कोशिश की जाती है और ना ही उसके साथ सहृदयता के साथ व्यवहार किया जाता है। आदिवासी की चिंता जल, जंगल, जमीन, भाषा और संस्कृति की है जो आदिवासी अस्मिता के लिए आवश्यक है। बाहरी स्वरूप और आवरण के आधार पर परिभाषा गढ़ दी जाती है, जो यथार्थ से बिल्कुल दूर की बात होती है। "आदिवासी देश के मूल निवासी माने जाने वाले तमाम आदिम समुदायों का सामूहिक नाम है। इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि आदिवासी पद का 'आदि' उन समुदायों के आदिम युग तक के इतिहास का द्योतक है।"

आर्यों के आने से पूर्व भारत के घने जंगलों में, पहाड़–पर्वतों में, घाटियों–दर्रों में आदिवासी अपना जीवन जी रहे थे। उस जंगल पर, उस हिस्से पर आदिवासी का ही अधिकार था, उसकी सत्ता थी। फल–फूल, लकड़ी, शिकार के लिए उसे किसी से स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं थी। खैबर दर्रे से जब आर्य भारत आए तो वे अपने साथ रथ, बर्छी, कुल्हाड़ी, गाय, घोड़े, ढोरों की फौज लेकर आए और पहला हमला उन्होंने आदिवासियों पर किया। इस तरह गोरे आर्यों ने काले आदिवासियों को अपने अधीन कर लिया। चमड़ी का रंग वर्ण का स्वीकृत अर्थ हो गया और यह चीज

जिसे भारतीय इतिहास का आरंभ कहा गया उसकी आधारशिला बन गई। आर्य अपने पास उपलब्ध घोड़ों और शस्त्रों के बल पर आदिवासियों के जंगल व जमीन पर अतिक्रमण करने लगे तथा उन्हीं के जंगलों और जमीनों से निकाल बाहर करने लगे। आर्य यज्ञ करते थे और यह 'हिस्सा हमारा हुआ' ऐसी घोषणा करते थे। आदिवासियों के प्रतिकार करने पर उन्हें असुर, राक्षस कहकर कत्ल किया गया। आर्यों के आगमन के पश्चात् ही सही अर्थों में आदिवासियों की दुर्दशा का प्रारंभ हुआ। सैकड़ों वर्ष बीत गए पर आज भी अधिकांश आदिवासी जंगलों, वनों और गिरिकुहरों में समूहों में रहकर जीवनयापन कर रहे हैं।

प्रत्येक सदी से छला–सताया, नंगा किया और सोची–समझी साजिश के तहत वन–जंगलों में जबरन भगाया जाता रहा आदिवासी समाज। वह मनुष्य जो अपनी स्वतंत्र परंपरा सहित, सहस्र वर्षों घने जंगलों में रहनेवाला संदर्भहीन मनुष्य है। जो एक विशेष पर्यावरण में अपनी सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को जान की कीमत पर संजोये, प्रकृतिनिष्ठ, प्रकृति–निर्भर, कमर पर बित्ते भर चिंदी लपेटे, पीठ पर आयुध लेकर, लक्ष्य की खोज में शिकारी बना, मारा–मारा भटक रहा है। कभी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक वैभव से इतराने वाला यह कर्तव्यशील मनुष्य, परंतु वर्तमान में लाचार, अन्यायग्रस्त तथा पशुवत् जीवन यापन करनेवाला मनुष्य वेदना से लोकाचार है। आज आदिवासी शब्द के उच्चारण से ही अनेको बिंब सहज ही बनने लगते हैं।

सूर्यास्त के साथ–साथ गिरिकुहरों में उसकी हलचल बंद हो जाती है। सूर्योदय के साथ–साथ भोजन की खोज में वन की संकरी, कंटीली पगडंडियों पर उसके नंगे पैर चलने लगते हैं। जंगल में भोजन के लिए घूम–घूमकर थके उसके पैर, चिलचिलाती धूप में तपी उसकी पीठ, यदि भोजन मिल भी जाए तो कंधे पर शिकार का बोझ यही है आधुनिक भारत में आदिवासी का करुणापूर्ण दृश्य! दिनभर भटकने के बाद आई थकान को दूर करने के लिए थोड़ी–सी रोशनी में मस्त महफिल लगाई जाती है। उस संगीत–महफिल में आदिवासी स्त्री–पुरुष, बच्चे, युवक–युवतियां

तथा बड़े–बूढ़े सामूहिक रूप से नृत्य करते हैं, गाते हैं और अपने सांस्कृतिक मूल्यों को संजोये रखते हैं। ये मूल्य ही उनके सामूहिक जीवन की विशेषताएं हैं। उनकी सांस्कृतिक समूह चेतना ही, उनके समूह–जीवन की आधारशिला है। इस विकासमान मानव के प्रति लोगों में विभिन्न धारणाएं बनी हुई हैं– "अधनंगे रहने के कारण या लंगोटी पहने शिकार के लिए जंगल–जंगल भटकने से भी उन्हें 'भूमिपुत्र' या 'वनपुत्र' कहना समीचीन समझते हैं। आजकल 'आदिपुत्र' जैसे नामों का प्रयोग भी उनके लिए किया जा रहा है। जंगल के 'अनाभिषिक्त राजा' के रूप में भी उनका उल्लेख किया जाता है।"

आदिवासी समाज को जो कुछ भी प्राप्त था, वह सब कुछ प्रकृति द्वारा प्रदत्त था। युगों से आदिवासी समाज को किसी पराए सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक नियमों के तहत बंधने का कोई भी प्रयास पसंद नहीं था। इसी प्राकृतिक विचारधारा से ओतप्रोत वह भूमि, खेत–खलिहान, जल, जंगल, नदी, पहाड़, जीवन जीने की स्वतंत्रता आदि को प्रकृति का दिया हुआ मानता रहा है और कोई राजा, साम्राज्य अथवा किसी शासकीय सत्ता को कभी भी इसका मालिक नहीं माना।

आज "आदिवासी लोग ऐतिहासिक रूप से विकसित और जैविक रूप से स्वतः आगे बढ़ने वाली इकाइयां हैं, जो कुछ खास सांस्कृतिक विशेषताओं द्वारा लक्षित होती हैं और जो मुख्यधारा के समाज और उसकी संस्थाओं द्वारा कई तरह से दबाई जाती हैं, और जो लंबे समय से अपनी विशिष्टताओं और अस्तित्व के लिए बुनियादी सीमाई संसाधनों के संरक्षण व उनकी बढ़ोतरी के संघर्ष में लगे रहे हैं। हमें याद रखना होगा कि आदिवासी भारतीय भूमि पर निवास कर रहे देश के मूल निवासियों या आदि निवासियों के वंशजों के रूप में मान्य तमाम समुदायों के लिए इस्तेमाल होने वाला एक व्यापक पद है। आदिवासी का अर्थ समाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समूह है, जिसकी स्वायत्तशासी व्यवस्था होती है। स्वतंत्र एवं सौहार्दपूर्ण जीवन व्यतीत करने की चेतना प्रकृति प्रद्त शाद्वल कुंजों से प्राप्त करता है तथा विभिन्न जीवों के साथ

आत्मीयता और संसर्ग स्थापित करने वाला विकासमान मानव है।

भौगोलिक भिन्नता के कारण आदिवासियों की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा भाषाई विशिष्टताएं भी भिन्न–भिन्न हैं। भौगोलिक दृष्टि से भारतीय आदिवासी जातियों को कई भागों में विभाजित किया गया है। भारत जैसे बड़े देश में अनेक आदिवासी जातियां निवास करती हैं। लेकिन सबकी पहचान एक जैसी नहीं है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की रिपोर्ट 'द स्टेट आफ द वर्ल्डस इंडीजीनस पीपुल्स' में कहा गया है कि मूलवंशी और आदिम जनजातियां पूरे विश्व में अपनी संपदा, संसाधन और जमीन से वंचित व विस्थापित होकर विलुप्त होने के कगार पर हैं।

आदिवासी समाज की समस्याएं दुनिया में एक विशेष सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विचार–विमर्श का बिन्दु हो गई है। विश्व के पाँचो महादेशों एशिया, यूरोप, अमेरिका, दक्षिण अमेरिका और आस्ट्रेलिया में विभिन्न रूप में समस्याएँ खड़ी होती गई है। उपनिवेशवाद के कारण समस्या जटिल होती गई है क्योंकि उपनिवेशी राष्ट्रीय शासन सत्ता अपनी ही सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक ढांचों को थोपना चाहती है। इससे आदिवासियों के जीवन में औपनिवेशिक अतिक्रमण जारी है। संघर्ष क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अभी भी जारी है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तराष्ट्रीय मजदूर समस्या के निदान खोजने के क्रम में आदिवासियों के विशिष्ट अस्तित्व और अस्मिता को चिह्नित किया गया और समस्या को सुलझाने में विभिन्न तरीके से कोशिश जारी है। इसी समस्या को उजागर करने के मतलब से वर्किंग ग्रूप ऑन इन्डीजिनेश एंड ट्राइबल पीप्ल की अगुवाई में काम जारी है। हर देश से आदिवासी अपनी–अपनी समस्या को प्रस्तुत कर उनका निदान खोजने के लिए पहल किया जाता है। भारत इंडियन कौंसिल ऑफ इंडिजिनेश एंड ट्राइबल पीप्ल के माध्यम से छोटा दल जिनेवा जाकर भारत में आदिवासी समस्याओं का प्रतिवेदन प्रस्तुत करता आया है।

साधारण और हल्के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आदिवासी को शोषण, पीड़ा हर महादेश के देशों में कमोवेश चालू

है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर से 9 अगस्त को विश्व आदिवासी दिवस मनाने का निश्चय किया गया है। अतः हमारे भारत में और विशेषकर झारखंड में विश्व आदिवासी दिवस मनाया जाता है। अब तो धीरे–धीरे एक परिपाटी निभाने की प्रथा हो गयी है। आदिवासी समस्या की गम्भीरता से जुझारू रूख अपना कर संघर्ष करने की लत धीरे–धीरे कम होती जा रही है।

आदिवासियों की समस्या एक औपनिवशिक संदर्भ में कैसे जटिल होती है उसका छोटा उदाहरण ऑस्ट्रेलिया का दे रहे हैं। यूरोप के विभिन्न देशों से गोरे लोग आकर आस्ट्रेलिया में बस गये। उन्होंने वहाँ के आदिवासियों की जमीन हड़प ली। अब उनकी अस्मिता भी खत्म करने की साजिश उन्होंने यह कर डाली कि आदिवासी बच्चे को जन्मते ही गोरे के घर पहुँचा देने की प्रथा चली। इससे आस्ट्रेलिया का आदिवासी बच्चा अपनी भाषा और संस्कृति से वंचित होते गया और वहाँ का आदिवासी समाज अपनी संस्कृति–सामाजिक जड़ एवं नीव से उखड़ कर एक अजीब गोरे–काले की संस्कृति जो गोरे की भाषा संस्कृति से संचालित की जाती है, उदय हुआ और चालू था। वर्तमान आस्ट्रेलियन सरकार के प्रेसिडेन्ट ने खुल कर इसके लिए आस्ट्रेलिया के आदिवासियों से माफी माँगी है। यह एक अच्छा कदम और एक रचनात्मक कदम माना जायगा। ऐसे ही उत्तरी अमेरिका, दक्षिण अमेरिका के तमाम देशों के उदारण दिये जा सकते हैं। एशिया महादेश की स्थिति अजीब है। जबसे सब देश आजाद होकर अपनी स्वदेशी सरकार और प्रजातांत्रिक प्रशासन का गठन होते गया है एक भ्रम पैदा की गई है कि इन नये प्राजतंत्र देशों में आदिवासी नहीं हैं, सब स्वदेशी हैं। चीन और भारत में यह भ्रम ऐसी जड़ पकड़ी है कि इससे इन राष्ट्रों को मुक्त करना कठिन हो जा रहा है।

आज जो विकास का मॉडल है वह पर्यावरण तथा उसके साथ–साथ आदिवासी को जमीन जल जंगल से विस्थापित करके विनाश के खड में ढकेलने का है। इसमें सरकार और कोरपोरेट घराना तथा आदिवासी जनता भी कुछ बहुत जवाबदेह है। एक वैकल्पिक विकास मॉडल को प्रस्तुत कर लागू करने का अभियान

जारी होना है। बड़े उद्योग, पावर प्लान्ट तथा खदानों का निर्मम खुदाई तथा खुदाई के बाद उन खडों को नहीं भरने के कारण झारखंड बंजर भूमि होने की और जा रहा है। जंगल की बेहिसाब कटाई और खदानों के प्रदूषण आकाश की हवा और नदी नाले के पानी को इतना प्रदूषित करा दिया है कि वे पीने योग्य तो नहीं है पर नदी की मछली, केकड़े आदि सब मर जा रहे हैं। आप दामोदर घाटी परियोजना को जाकर देखें तो आप की आँख खुलेगी। उसी तरह उद्योग–पतियों से एमओयू करके गाँव के गाँव तथा जंगल–झाड़ उजाडें जा रहें हैं। इससे आदिवासी विस्थापित होकर कहाँ–कहाँ जाकर खो जा रहे हैं इसका कोई पता नहीं है। नीयत और नीति ठीक नहीं रहने के कारण हमारे युवा वर्ग को रोजगार भी छिनता–लुटता जा रहा है।

रिपोर्ट में भारत के झारखंड राज्य की चर्चा करते हुए कहा गया है कि यहा चल रहे खनन कार्य के कारण विस्थापित हुए संथाल जनजाति के हजारों परिवारों को आज तक मुआवजा तक हासिल नहीं हो सका है। गरीबी, बीमारी, बेरोजगारी और अशिक्षा के कारण आज आदिवासी समाज अपनी संस्कृति से दूर होता जा रहा है। परसंस्कृति ग्रहण की समस्या ने आदिवासी समाज को एक ऐसे दोराहे पर खड़ा कर दिया है, जहां वे न तो अपनी संस्कृति बचा पा रहे हैं और न ही आधुनिकता से लैस होकर राष्ट्र की मुख्यधारा में ही शामिल हो पा रहे हैं। बीच की स्थिति के कारण ही उनके जीवन और संस्कृति पर संकट मंडराने लगा है। यह सब कुछ उनके जीवन में बाहरी हस्तक्षेप के कारण ही हुआ है।

भारत में ब्रिटिश शासन के समय सबसे पहले जनजातियों के सांस्कृतिक जीवन में हस्तक्षेप की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। जनजातियों की निर्धनता का लाभ उठाकर ईसाई मिशनरियों ने उनके बीच अनाज, कपड़े और औषधिया बांटनी शुरू की। लिहाजा, जनजातियों का उनकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। लिहाजा, बड़े पैमाने पर जनजातियों का धर्म परिवर्तन हुआ, लेकिन सच कहा जाए तो जनजातियों के जीवन में कोई खास सुधार नहीं हुआ। ईसाइयत न तो उनकी गरीबी, बेरोजगारी को कम कर पाई और न ही उन्हें

इतना शिक्षित ही बना पाई कि वे स्वावलंबी होकर अपने समाज का भला कर सके।

विवाह और सामाजिक संपर्क के क्षेत्र में उन्हें अब भी एक पृथक समूह के रूप में देखा जा रहा है। आज भारत के उत्तर–पूर्वी तथा दक्षिणी भागों की जनजातियों में कितने ही व्यक्ति अंग्रेजी को अपनी मातृभाषा के रूप में स्वीकार करने लगे हैं। उन्होंने धीरे–धीरे अपनी मूल भाषा–बोली का ही परित्याग कर दिया है।

सच तो यह है कि प्रत्येक समूह की भाषा में उसके प्रतीकों को व्यक्त करने की क्षमता होती है और यदि भाषा में परिवर्तन हो जाए तो समूहों के मूल्यों और उपयोगी व्यवहारों में भी परिवर्तन होने लगता है। सांस्कृतिक मूल्यों और आदर्श नियमों का क्षरण होने से आदिवासी समाज संक्रमण के दौर से गुजरने लगा है।

जनजातियों की संस्कृति पर दूसरा हमला कॉरपोरेट जगत और सरकार की मिलीभगत के कारण भी होने लगा है। जंगल को अपनी मातृभूमि समझने वाले जनजातियों के इस आशियाने को उजाड़ने का जिम्मा खुद सरकारों द्वारा उठा लिया गया है। जंगलों को काटकर और जलाकर उस भूमि को जिस प्रायोजित तरीके से उद्योग समूहों को सौंपा जा रहा है, उसका भी प्रभाव संस्कृति पर साफ देखा जा रहा है।

मूलवासी जनसमूह व्यावसायिक और एक फसल के कारण आजीविका के संकट से तो जूझ ही रहे ही हैं, साथ ही वे कई तरह की बीमारियों से भी लड़ रहे हैं।

अगर हम विकसित देश अमेरिका की ही बात की जाए तो आम आदमी की तुलना में आदिवासी समूह के लोगों को तपेदिक हाने की आशंका 600 गुना अधिक है। उनके आत्महत्या करने की आशंका भी 62 फीसदी ज्यादा है। आस्ट्रेलिया में आदिवासी समुदाय का कोई बच्चा किसी अन्य समूह के बच्चे की तुलना में 20 साल पहले मर जाता है। नेपाल में अन्य समुदाय के बच्चे की तुलना में आदिवासी समुदाय के बच्चे की आयु का अंतर 20 साल, ग्वाटेमाला में 13 साल और न्यूजीलैंड में 11 साल है। पर्यटन के नाम पर ब्राजील जैसे देश में पिछले सौ साल में 270 आदिवासी

समुदायों में से 90 पूरी तरह से विलुप्त हो चुके हैं यानी करीब हर दस साल में एक जनजाति का विनाश हो चुका है।

विश्व स्तर पर देखें तो आदिवासी समुदाय के कुल 50 फीसदी लोग टाइप–2 मधुमेह से पीड़ित हैं। आशंका तो यह भी जताई जा रही है कि इस सदी के अंत तक जनजातीय समाज की 90 फीसदी भाषाएं विलुप्त हो सकती हैं। रिपोर्ट में कहा गया है कि भारत में दलितों के खिलाफ जाति आधारित भेदभाव के कारण अन्य लोगों के बनिस्पत अनुसूचित जातियों में गरीबों की तादाद ज्यादा है।

आदिवासी जनसमुदाय की दीन–दशा पर ध्यान खींचते हुए कहा गया है कि इनकी आबादी विश्व की जनसंख्या की महज 5 फीसदी है, लेकिन दुनिया के 90 करोड़ गरीब लोगों में मूलवासी लोगों की संख्या एक तिहाई है। विकसित और विकासशील दोनों ही देशों में कुपोषण, गरीबी और सेहत को बनाए रखने के लिए जरूरी संसाधनों के अभाव और प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के कारण आदिवासी जनसमूह विश्वव्यापी स्तर पर अमानवीय दशा में रह रहे हैं।

आज जरूरत है जनजातियों की संस्कृति और उनके जीवन को बचाने की है। अन्यथा संस्कृति और समाज की टूटन जनजातियों को राष्ट्र की मुख्य धारा से तो अलग करेगी ही, उन्हें हिंसक घटनाओं की ओर भी जाने के लिए उकसाएगी और वे दंतेवाड़ा जैसी घटनाओं को अंजाम देने से तनिक भी नहीं हिचकेंगे।

आदिवासी समुदाय जो सदियों से वंचित, शोषित और विकल्पहीन रहे हैं, उनकी हालात बहुत ही सोचनीय और चिंताजनक है। जंगल और भूमि की लूट के साथ प्राकृतिक संसाधनों के अवैज्ञानिक दोहन ने इस धरती की विकास के नाम पर हरियाली मिटा दी। समानता, अवसर और अधिकारों से वंचित कर इस समुदाय को तथाकथित विकास की मुख्यधारा से जोड़ने के ढोंग ने इनको अपनी जमीन से बेदखल कर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैचारिक, सांस्कृतिक और मानसिक स्तर पर सोची–समझी रणनीति के तहत कमजोर किया जाता रहा है।

कौटिल्य ने अपनी प्रसिद्ध कृति अर्थशास्त्र में कहा था कि राष्ट्र

की संपदा के स्रोत खनन एवं धातुकर्म उद्योग हैं। खनिज और धातु ने सभ्यता और मानवजाति के विकास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राष्ट्र की क्षमता खनिज संसाधनों से बनती है, लेकिन आज के दौर में भारत या पूरे विश्व में खनिज उद्योगों या खनन गतिविधियों पर नजर डालते हैं, तो वास्तविकता कुछ और ही बयां करती है। इस वास्तविकता ने खनन से संबंधित नए वाद–विवाद को जन्म दिया कि किस तरह से देश में खनन गतिविधियों द्वारा राष्ट्रीय विकास और सार्वजनिक हित के नाम पर आदिवासियों की बलि चढ़ाई जा रही है।

आदिवासी समुदाय सदियों से पहाड़ों, पर्वतों जमीन–जंगल के साथ अपने अस्तित्व की स्थापना के क्रम में जीवंत है। इसी कारण इस समुदाय के विकास की संकल्पना की समझ पूरी तरह से जल–जंगल–जमीन और व्यक्तियों के सहयोगपूर्ण संबंधों के साथ जुड़ी हुई है। यह सर्वविदित है कि झारखंड में प्रचुर मात्रा में संसाधन होने के बावजूद यहां के आदिवासियों का सामाजिक और आर्थिक स्तर ऊंचा नहीं उठ पाया है, जबकि राज्य विकास के नाम पर विनाश के बीज बोये जा रहा है। एक तरह से इसकी कीमत यहां के मूल निवासियों को चुकानी पड़ रही है। खनन गतिविधियों का सबसे ज्यादा असर आदिवासी समुदायों पर पड़ा है, वह भी विस्थापन की त्रासदी के रूप में।

खनन कार्यों के लिए आदिवासियों से उनके जंगल और जमीन छीनकर आर्थिक रूप से उन्हें पंगु बना दिया गया है, जिस कारण उन्हें मजबूरन पलायन का दंश झेलना पड़ता है। जब आदिवासी क्षेत्रों में आधारभूत सुविधाएं जैसे बिजली, यातायात, सिंचाई की व्यवस्था, स्कूल, प्राथमिक स्वास्थ जैसी मूलभूत व्यवस्था न हो, तो लोग आजीविका के लिए अपने गांव छोड़ने पर मजबूर होकर पलायन करते हैं। इसकी वजह से आदिवासी समुदाय की सामाजिकता और संस्कृति का भी क्षरण होता है। नई जगहों पर विस्थापितों को प्रायरू उनकी संस्कृति और समाजिकता का अभाव नजर आता है। वहीं खनन के दौरान निकलने वाले खतरनाक विषैले पदार्थों ने उनके स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव डाला

है। उदाहरण के लिए जादूगोड़ा में हो रहे यूरेनियम खनन से निकलने वाली विकिरणों के कारण आसपास रहने वाले संथाल और मुंडा आदिवासियों का जीवन बुरी तरह प्रभावित हो रहा है। इन विकिरणों के दुष्प्रभाव से औरतों का गर्भ नहीं ठहर रहा है या फिर बच्चे विकलांग पैदा हो रहे हैं। थेलेसेनिया, ल्यूकेमिया, टीबी और कैंसर जैसी बीमारियों तो जैसे लोगों की नियति बन गई हैं। खनन गतिविधियों का महिलाओं और बच्चों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। बच्चे स्कूलों और मैदानों में पढ़ने और खेलने के बजाए झारखंड की खानों में बुरी हालातों में मजदूरी कर रहे हैं, जिस कारण इनका सामाजिक, मानवीय और आर्थिक विकास बुरी तरह प्रभावित होता है।

इसके अतिरिक्त पूंजीपतियों, माफिया, नौकरशाही और नेताओं की मिलीभगत से अवैध खनन ने जोर पकड़ा हुआ है, जिससे इन क्षेत्रों में अव्यवस्था सी फैल गई है। इसकी वजह से कहीं न कहीं चरमपंथी–उग्रवाद को पनपने का भी मौका मिला है।

विकास एवं पुनर्वास के नाम पर या ऐसे कई अन्य कारणों से बड़ी मात्रा में आबादी एक जगह से दूसरी जगह विस्थापित कर दी जाती है। वजह चाहे जो भी हो किंतु वह आबादी जो विस्थापित हो रही होती है उसके लिए विस्थापन मात्र एक परिघटना नहीं होती है। सदियों से जिन जड़ों से वह जुड़े होते हैं उन्हें जब एक झटके से अलग कर दिया जाता है तो यह आबादी एक संकटपूर्ण जीवन व्यतीत करने को मजबूर हो जाती है। विस्थापन आज वैश्विक पटल पर एक बड़ी परिघटना का रूप अख्तियार कर चुका है। कई हजारों परिवार या पूरा का पूरा समुदाय विभिन्न वजहों से विस्थापित कर दिया जाता है।

आप विकास की बात करते हैं। आदिवासी महिलाये लड़कियों की कुरबानी या फिर तकलीफें की ओर जरा सोचिये आपके ही आदिवासी भाई–बहन किस तरह से जीने को मजबूर हैं। इस सभ्य समाज के तथाकथित विकास की वजह से विस्थापन एक ऐसी त्रासदी है जो औरतों और बच्चों के जीवन में अंधेरा बना देती है। वे घरविहीन हो जाती हैं। इतना ही नहीं विस्थापन का प्रभाव

महिलाओं के जीवन में और भी कई स्तर पर पड़ता है। जहाँ उन्हें बसाया जता हैं उस स्थान में रहने के लिए अस्थायी बैरक और एक–एक कमरे का मकान ही दिया जाता है। यहां से भी उनके उजड़ा जाना तय है लेकिन वह कहाँ जायेंगे खुद उन्हें नहीं मालूम होता है। विस्थापित होते ही वह अपने बुनियादी हक से भी वंचित हो जाते हैं। नौकरी के लिए भी कई शर्तें लगाई जाती हैं जिन्हें पूरा करना इनके लिए कठिन होता है।

सदियों से रह रहे गांवों में पानी के कई स्रोत होते हैं। कुंआ, तालाब, दाडी, झरना, नदी, हैंडपंप, पाइप या अन्य स्रोंतों से पानी उन्हें मिलता है। लेकिन विस्थापित या प्रभावित होने के बाद ये सारी चीजें खत्म हो जाती हैं। पीने का पानी लाने के लिए महिलाओं को पांच से दस किलो मीटर दूर जाना पड़ता है। गर्मी के दिनों में उससे भी ज्यादा दूर जाकर पानी लाना पड़ता है। पीने के स्वच्छ पानी के अभाव में वे कई तरह की छोटी–बड़ी बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। टीबी, मलेरिया, डारिया, उनका पीछा नहीं छोड़ती है। शौच के लिए स्थान की कमी उनकी बीमारी को बढ़ाती है। कुल मिलाकर देखा जाए तो विस्थापन से महिलाएं न सिर्फ समाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक बल्कि शारीरिक व मानसिक रूप से भी इस तरह प्रभावित होती हैं कि लाख कोशिशों के बावजूद वह सामान्य जीवन नहीं जी पाती हैं और धीरे–धीरे एक ऐसी अंधेरी सुरंग में खोती जाती है जहां दूर–दूर तक रोशनी की कोई किरण दिखाई नहीं देती है। ●

6

आदिवासी समाज और शिक्षा

आदिवासियों की अपनी एक सामाजिक व्यवस्था रही है। ये कई वर्षों तक समाज की मुख्य धारा से अलग–थलग रहे हैं। इनकी शिक्षा–व्यवस्था भी इनकी सामाजिक व्यवस्था का एक अंग रही है। आदिवासियों की पारम्परिक जीवन–शैली में उनके पारम्परिक शिक्षा–केन्द्रों की अविस्मरणीय भूमिका रही है।

आज आदिवासियों को आधुनिक ज्ञान–विज्ञान से जोड़ने का उद्देश्य लेकर सरकार ने आदिवासी इलाकों में अनेक विद्यालयों की स्थापना की है। कई एन.जी.ओ. भी आदिवासी इलाकों में शिक्षा–व्यवस्था में कथित तौर पर अपना योगदान दे रही हैं। लेकिन आदिवासियों की विद्यालयी शिक्षा के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। इन बाधाओं में भाषा की समस्या प्रमुख है।

आदिवासियों की भाषाएँ भारत की मानक भाषाओं से भिन्न होती हैं। आदिवासियों को उनकी मातृभाषा में विद्यालयी शिक्षा नहीं मिल पाती। इन विद्यालयों में पढ़ाने वाले शिक्षक प्रायः गैर–आदिवासी होते हैं जो आदिवासियों की भाषाओं से अनभिज्ञ होते हैं। इससे कई आदिवासी बच्चे विद्यालयी शिक्षा को पूर्णरूपेण आत्मसात कर पाने में असफल रहते हैं। आदिवासियों की आर्थिक समस्या भी

उनकी विद्यालयी शिक्षा के मार्ग में आड़े आती है। वे चाहते हैं कि उनके बच्चे पढ़ाई करने के बजाय उनकी खेती–बाड़ी और काम–काज में हाथ बंटाएं। इतना ही नहीं, आदिवासी इलाके के विद्यालयों में आदिवासी बच्चों के साथ शिक्षकों का व्यवहार भी सौहार्दपूर्ण नहीं होता। ऐसे में शिक्षक एवं विद्यार्थियों के बीच दूरी बढ़ जाती है और अधिकतर आदिवासी विद्यार्थी विद्यालयी शिक्षा का त्याग करने में ही अपना हित समझते हैं।

आज शिक्षा एक व्यवसाय का रूप ले चुकी है। एक तो सरकारी विद्यालयों में शिक्षकों के बहुत सारे पद रिक्त पड़े हैं, वहीं दूसरी ओर सरकारी विद्यालयों के शिक्षकों को पल्स पोलियो टीकाकरण अभियान, जनगणना, मतदान आदि गैर–शैक्षणिक कार्यों में भी लगा दिया जाता है। आदिवासी इलाकों में सरकारी विद्यालयों में स्थिति और भी गम्भीर है। वहाँ गैर–आदिवासी ही नहीं, बल्कि जो थोड़े–बहुत आदिवासी पढ़–लिख गए हैं, वे भी काम करना नहीं चाहते। निजी विद्यालयों और सरकारी विद्यालयों के बीच अनंत काल तक बनी रहने वाली दीवार खिंच गई है। निजी विद्यालयों में नेताओं और नौकरशाहों के बच्चे पढ़ते हैं और ये लोग कभी नहीं चाहते कि ग्रामीण और आदिवासी बच्चे उनके बच्चों की बराबरी करें। यही कारण है कि सरकारी विद्यालयों के संबंध में बहुत बड़े बजट के बावजूद स्थिति जस की तस है।

यह भी गौरतलब है कि विद्यालयी और विश्वविद्यालयी शिक्षा प्राप्त करने के बाद आदिवासी समुदाय के लोगों में अपनी संस्कृति और जीवन–मूल्यों के प्रति भी उदासीनता का भाव आ जाता है। विद्यालयी शिक्षा के पाठ्यक्रम का परिवेश आदिवासियों की जीवन–शैली से नितांत भिन्न होता है जिस कारण आदिवासी विद्यार्थी विद्यालयी पाठ्यक्रम के साथ सामंजस्य नहीं बिठा पाते।

आज आदिवासी समाज शिक्षा के मामले में कई तरह की परेशानियों से एक साथ जूझ रहा है। सरकारी विद्यालयों में मातृभाषा में शिक्षा का अभाव, योग्य शिक्षकों का अभाव, पाठ्यक्रम का आदिवासी जीवन–शैली से मेल न खाना आदि समस्याएँ तो हैं ही, साथ ही आदिवासियों के परम्परागत शिक्षा–केन्द्रों का

ह्रास, भूमंडलीकरण एवं बाहरी दुनिया का भारी हस्तक्षेप, विभिन्न धर्मों का आदिवासी जीवन–शैली में हस्तक्षेप आदि के कारण भी आदिवासियों की शिक्षा–प्राप्ति के मार्ग में बड़ी बाधाएँ उपस्थित हुई हैं। आज आदिवासियों को रोजगारोन्मुखी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे वे अपने जीवन को आधुनिक काल की चुनौतियों से डटकर मुकाबला कर सकें।

आदिवासियों की खुद की एक अपनी सभ्यता और संस्कृति है जिसमे वह जीते हैं। उनका एक तौर तरीका है, उनका रहन सहन खुद का है, भाषा है बोली है तथा अपना एक अलग तरीका है जीवन को जीने तथा समझने का, वो जिस हालत में हैं वो खुश हैं उनके अपने स्कूल या शिक्षा तंत्र हैं, उनके खुद के खेल या प्रथाएं हैं, खुद के ही देवी देवता हैं तथा खुद की ही परंपरा और सभ्यता है। इसी तरह सदियों से जंगल में रहते हुए उन्होंने खुद का ही एक स्वास्थ्य का या उपचार करने का तंत्र भी विकसित किया है जो कि उन तथाकथित विकसित सभ्यताओं के तंत्र से कहीं अधिक विकसित है जो विदेशी आक्रान्ताओं के हमलों से निरंतर बदलती रही हैं। उनके स्वास्थ्य तंत्र में वो सर्पदंश, हड्डी जोड़, कैंसर, मधुमेह, चर्मरोग इत्यादि जैसी कई बीमारियों का इलाज करते हैं तथा इन सभी बीमारियों को जड़ से मिटा देने वाली अदभुत जड़ी–बूटियां उनके पास जंगलों में मौजूद हैं।

अब दिक्कत कहां आ रही है, जब सब कुछ मौजूद है तो दिक्कत है पढ़े लिखे लोगों के साथ जिनमें हम जैसा कोई पढ़ा लिखा शहरी वहां पहुंचता है अपने अज्ञानवश कहिये या मूर्खतावश कहने लगता है कि ये तो पिछड़े हैं यहां स्कूल नहीं हैं, यहां शॉपिंग मॉल नहीं हैं, यहां डॉक्टर नहीं हैं, कपडे नहीं है, टीवी नहीं है, सड़के नहीं हैं ये सब बहुत दुखी हैं। इनका विकास करना हैं, यहां कंपनियां लाओ, डॉक्टर लाओ, इन झोलाछाप वैद्यों को भगाओ या जंगल काट के सीमेंट की सड़कें बनवाओ। यदि ये पढ़े लिखे महाशय थोड़े अमीर या रसूखदार हों तो सारी सरकारी मशीनरी इनकी सेवा करने में लग जाती है। इससे होता ये है कि तथाकथित विकास करने के नाम पर पहले जंगल काटते हैं, फिर

जड़ी–बूटियां, फिर जानवर। विकास के नाम पर कंपनियां आकर पर्यावरण तथा नदियों पर भी अपना कब्जा जमा लेती हैं और उन्हें प्रदूषित कर देती हैं और हम अंग्रेजी स्कूल खोल कर बच्चों को भी उनकी सभ्यता और संस्कृति से दूर करके किसी बड़े शहर में बेरोजगार घुमने के लिए तैयार कर देते हैं फिर वहां जंगल में बनी कंपनियों में सारे शहर के पढ़े लिखे लोग रोजगार करते हैं तथा जिनका विकास करने के लिए ये सब हुआ था वो खत्म हो जा जाते हैं या वहां से पलायन करने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

बहुत कम लोग हैं जिन्होंने अपनी आदिवासी भाषा में साहित्य लिखा और जो लिखा वह भी बहुत कम लेखकों ने लिखा। उनकी भाषाओं का सवाल इस विमर्श में कहीं नहीं आया। झारखंड में संथाली साहित्य सम्मेलन होते हैं, विश्व साहित्य सम्मेलन होता है संथालियों का, क्योंकि वो हिंदुस्तान के आसपास के भी कुछ देशों में मौजूद हैं। लेकिन संथालियों को अपनी भाषा पर बहुत गर्व है। संथाली अपनी भाषा में लिखते हैं, संथालियों का सम्मेलन होता है तो वहां संथाली भाषा के कम से कम 500 प्रकाशन आते हैं। 500 प्रकाशन संथाली भाषा के! हिंदुस्तान के तमाम आदिवासियों ने मिलकर उतना साहित्य नहीं लिखा अपनी भाषा में, जितना अकेले संथालियों ने अपनी संथाली भाषा में लिखा है। ये असमानता तो है। लेकिन भाषाओं का सवाल बहुत महत्वपूर्ण है। सुनीति कुमार चटर्जी जो इतने बड़े भाषाविद् हुए उन्होंने ये भविष्यवाणी कर रखी है कि आदिवासी भाषाएं अपनी मौत मरती जाएंगी, दो–तीन सौ साल में खत्म हो जाएंगी। इसका जवाब आदिवासी विमर्श को देना है कि क्या ये भाषाएं खत्म हो जाएंगी, मर जाएंगी या आदिवासियों के जीवन में उनकी संस्कृति के लिए इसका कोई महत्व है। आदिवासी विमर्श को बड़ी गंभीरता से सोचने की जरूरत है कि अपनी भाषा के बिना वो अपनी संस्कृति को कब तक बचाकर रख सकते हैं?

आदिवासी समाज की एक जो बहुत बड़ी समस्या है, वह है शिक्षित लोगों की अपने समाज और संस्कृति के प्रति हीन भावना। अपनी भाषा नहीं बोलते हैं। अपनी भाषा बोलना नहीं चाहते हैं। ये

जो हीनता की भावना है और जो पैदा भी की गई है उनकी भाषाओं के प्रति, उनकी संस्कृति के प्रति, कुछ व्यक्ति के रूप से इससे उबरे हुए लोग जरूर हैं आदिवासी विमर्श में, लेकिन आदिवासियों की सामान्य भावना हीनता की भावना है। एक आत्मसम्मान का आंदोलन, जो अंबेडकर ने दलितों में चलाया और सफल हुए, वो आदिवासियों में अभी तक नहीं है, इसलिए वहां अस्मिता के आंदोलन का बड़ा महत्व है आजकल।

किसी भी देश के लोकगीत और लोकगाथाएं उस देश की आम जनता की भावना, संस्कृति, राग–द्वेष, दुख दर्द, भावनाओं और उनकी सांझी विरासत का दर्पण होती है। लोकगीत और लोकगाथाओं का सृजन आम जनजीवन की भावनाओं की उन्मुक्त स्थिति है। समाज में जैसा भी अच्छा–बुरा, सुंदर–असुंदर, रहा है, उसके प्रति साधारण जन मानस की भावनाएं लोकसाहित्य में ही दिखती है। लोकसाहित्य से ही जन मानस के दुख–दर्द, आशा–निराशा, पीडा, संवेदना, छटपटाहट–चिंताएं, कष्ट और जीवन के प्रति उनका दर्शन समझना संभव है। लोकसाहित्य का आधार मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु की समाप्ति तक के दर्शन से जुडा होने के कारण इसमें कहीं हर्षोल्लास के क्षण हैतो कहीं दुरूख के बादल मंडराते है। लोकसाहित्य का सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि इसके मूल में मनुष्य होने की का दर्द छिपा है।

लोकसाहित्य दलित आदिवासी स्त्री की अस्मिता, उसकी पहचान से जुड़े गीत, कहानियां उसके प्रति बरती जा रही अमानवीय क्रूरता, उपेक्षा, हिंसा और भेदभाव की पोल पट्टी खोलते हुए, उसके समर्थन में आकर समाज को चुनौती देता है। दलित आदिवासी स्त्री द्वारा रचे गए गीत–प्रगीत, किस्से कहानियां, उनके शारीरिक शोषण से लेकर मानसिक और शारीरिक प्रताड़ना की शिकायत करते है। उनके प्रति की जा रही घरेलू और सामाजिक हिंसा की मार्मिक दास्तान सुनाते है।

लोकसाहित्य जनमानस की धड़कन होते हुए भी समाजिक उपेक्षा के शिकार रहे है। इसका कारण है लोकसाहित्य का जनमानस से जुडा होना। लोकसाहित्य अपनी सहज अभिव्यक्तीय क्षमता और

संपेक्षणीयता के कारणशास्त्रीय साहित्य को हमेशा टक्कर देता रहा है। एक तरफ शास्त्रीय साहित्य हमेशा सत्ता– वैभव– शक्ति सम्पन्न और वर्णव्यवस्था के हिमायती झंडाबरदारों द्वारा पोषित रहा है, दूसरी तरफ लोकसाहित्य आम जन द्वारा अपने द्वारा रोज रोज जिए जा रहे संघर्ष, अनुभव और स्वभाव की सहज सरल संपदा से परिपूर्ण रहा है। शास्त्रीय साहित्य और उसकी कलाएं एक नियम, अनुशासन, रीति से बंधी होती है जबकि लोकसाहित्य भावनाओं की मुक्त–स्वछंद और स्वतंत्र अभिव्यक्ति है। इसीलिए लोकसाहित्य मेंजहां एक ओर आम जनमानस का खुशी से नाचता–झूमता रूप नजर आता है वहीं दूसरी ओर वह अपने रूदन को भी उतने ही सहज रूप से अभिव्यक्त करता है।

आदिवासी समाज की मनोदशा और उसकी स्थिति को समझने में लोकसाहित्य और लोक गीतों की बहुत बडी भूमिका हो सकती है, इसलिए इस दुश्कर लेकिन इस अति महत्वपूर्ण और रोमांचकारी काम को सामाजिक काम या सामाजिक उत्तरदायित्व समझकर करना पडेगा। आदिवासी लोकगीतों की रचना उनकी संस्कृति और उसके रहन सहन, उनके जल जंगल जमीन से जुड़ाव के गीत हैं। आदिवासियों के जीवन में अशिक्षा, गरीबी उनके शरीर में खून की तरह घुल–मिल गए हैं। लोकगीत समाज में व्याप्त भेदभाव, शोषण, उत्पीड़न की बेबाक अभिव्यक्ति करते है। आदिवासी समाज में भी जन्मगीत खूब मिलते है परन्तु आदिवासी समाज में लड़की होना उतनी शर्म की बात नहीं जितना की अन्य समाज में। इसका कारण शायद यही है कि आदिवासी समाज में स्त्री–पुरुषों के संबंधों में कुछ तो समानता रही ही है। एक मुण्डा लोकगीत जिसमें एक स्त्री अपनी पुत्री की जन्मा संबंधी जिज्ञासा शांत करते हुए कहती है कि–जब लड़का पैदा होता है तब सूर्य उगा, जब चांद उगा तू लड़की पैदा हुई। जब लड़का पैदा हुआ तब गोहाल उजड़ गया और जब लड़की पैदा हुई तब गोहाल भर गया।

इसमें कोई संदेह नही कि अगर आदिवासी संस्कृति की खोज करनी है, आदिवासी समाज को समझना है तो हमें लोकसाहित्य को खंगालना पड़ेगा। क्योंकि लोकसाहित्य आदिवासियों के आपसी

संबंधो से लेकर उनके सामाजिक व्यवहार, उनके प्रति बाकी समाज का रवैया, उनकी परंम्पराएं, उनके हर्ष–विषाद के क्षण को खोजने की कुंजी है। सबसे पहले किसी समाज को जानने के लिए सबसे प्राथमिक तथ्य उनकी अपनी वाचिक और मौखिक परंपरा ही होती है। खासकर ऐसे समाज की मनोदशा को जनाने के लिए, जिस पर सदियों से जुल्म अत्याचार, भेदभाव, शोषण होता रहा हो। ऐसे समाज को जानने के लिए उस समाज की लोक साहित्य की परम्परा को पढा जाना, उसे लिखा जाना और उसे स्थापित किया जाना बेहद जरुरी है।

साहित्य की प्रस्तुति आदिवासी समाज के बगैर क्यों है? ध्यान देने की बात है कि हमारे समाज, राजनीति और साहित्य में सक्रिय सभी लोगों ने दलितों, स्त्रियों और अल्पसंख्यकों के हितों की बात तो की, लेकिन किसी ने भी आदिवासियों के बारे में सोचने की जहमत नहीं उठायी। समाज सुधारक, लेखक और राजनीतिज्ञ, किसी ने भी उन लोगों की सुध लेने की आवश्यकता नहीं महसूस की, जिनकी बेदखली, लूट और नरसंहारों पर नये औद्योगिक भारत की नींव रखी जा रही थी। स्वतंत्रता के पहले भी और स्वतंत्रता के बाद भी।

कोयला, लोहा, बाक्साइट, लकड़ी और अन्य सभी प्राकृतिक संसाधन जहां से आ रहे थे, इन संसाधनों के जो नैसर्गिक स्वामी थे, उनके साथ क्या हो रहा था, यह जानने की कोशिश ही नहीं की गयी। क्यों हमारी दृष्टि चार वर्णों तक ही संकुचित है। हमें अपनी ही तरह बलशाली दूसरे धर्म–संप्रदाय तो दिखते हैं, लेकिन वह प्रकृति पूजक एवं आदि धर्मानुयायी आदिवासी नहीं दिखता है। जिसकी आवश्यकताएं सबसे न्यूनतम है और जो सर्वाधिक भाषाओं व संस्कृतियों के बीच बिना किसी टकराव या रक्तरंजित साम्राज्यवादी खेल के आनंद से जीता है। चूंकि अपनी संख्या बल और रिहाइश के आधार पर दलित एवं अल्पसंख्यक समुदाय वोट की राजनीति को प्रभावित करते हैं, इसीलिए उनको अनदेखा नहीं किया जा सका। बाबा साहेब आंबेडकर की उपस्थिति और दमदार दलित आंदोलनों के कारण भी शासक वर्ग को दलितों की बात

सुननी पड़ी। यह अलग बात है कि आज तक व्यवहार में उसका क्या हश्र हुआ।

दुर्गम क्षेत्रों में अपने निवास स्थलों और नगरीय जीवन से अलगाव के कारण आदिवासी आज भी दलितों–अल्पसंख्यकों की तुलना में भारतीय राजनीति पर दवाब डालने की स्थिति में नहीं हैं, पर निःसंदेह वे भारतीय विकास की रीढ़ हैं। उनके संसाधनों पर कब्जा करके ही आधुनिक भारत का विकास संभव हो सका है।

भारत में सबसे ज्यादा खोने और सबसे कम पाने वाला समाज आदिवासियों का ही है। इतिहास में मुक्ति की सबसे ज्यादा लड़ाइयां आदिवासी समुदायों ने ही लड़ी हैं। उन्होंने भारत के किसी भी समुदाय से सबसे ज्यादा त्याग और बलिदान किया है। प्राकृतिक संसाधनों की लूट और दोहन के लिए वे औपनिवेशिक काल में भी मारे जा रहे थे और आज के स्वतंत्र भारत में भी मारे जा रहे हैं। कोयलकारो, नेतरहाट, कलिंग नगर, सिंगूर, नंदीग्राम और लालगढ़ इक्कीसवीं सदी के सबसे नये आदिवासी मृत्यु क्षेत्र हैं। लेकिन उनकी चर्चा न तो भारतीय मुख्यधारा के समाज में है, न इतिहास में है। हिंदी साहित्य में तो है ही नहीं।

देश भर के आदिवासी इलाके जिन्हें पूरी तरह से माओवादियों या नक्सलियों के नियंत्रण में बताया जा रहा है, जहां पिछले तीन सौ वर्षों से आदिवासी अपने अस्तित्व–अधिकार की अंतिम निर्णायक लड़ाई लड़ रहे हैं, वे आपके साहित्य, समाज और राजनीति को क्यों नहीं खारिज कर दें।

दुनिया के आदिवासी समाजों ने अपनी लड़ाईयां खुद ही लड़ी हैं। इतिहास में भी और आज भी। दुनिया भर की विभिन्न भाषाओं में रचित लाखों टन क्रांतिदर्शी व मार्गदर्शी साहित्य के शब्दों ने उनकी कोई मदद नहीं की है। वे आज भी अलिखित समाज हैं। विश्वास न हो तो सरकार के आंकड़ें उठा कर देख लीजिए उनकी साक्षरता दर क्या है। वे स्वावलंबी जीवन जीते हैं। हमारी तरह नहीं कि उनके संसाधनों को लूट लेने के बाद भी उनके नाम पर पिछले साढ़े छः दशक से विकास का पैसा खा रहे हैं।

9 नवंबर 1947 को ही यह तय हो गया था कि भारत

आदिवासियों, दलितों ओर कमजोर लोगों का देश नहीं है, जब नेहरू–पटेल के साथ जयपाल सिंह मुंडा के नेतृत्व में झारखंडी समूह की वार्ता टूट गई थी। भारतीय संविधान बनने के पहले हुई इस वार्ता में जयपाल सिंह मुंडा ने कहा था, 'संविधान तुम्हारा है, सीमाएं तुम्हारी हैं, संप्रभुता तुम्हारी है, झंडा तुम्हारा है। हमारा क्या है? क्या है तुम्हारे प्रस्तावित संविधान में जो आदिवासियों और मुख्यधारा, दोनों के लिए एकसमान है।' कैसी विडंबना है भारत के आदिवासी समुदाय को आज भी यही सवाल करना पड़ रहा है। भाषा तुम्हारी है। साहित्य तुम्हारा है। अकादमियां तुम्हारी हैं। पत्र–पत्रिकाएं तुम्हारी हैं। लेखक तुम्हारे हैं। मान–सम्मान और पुरस्कार तुम्हारा है। हमारा क्या है?

परंपरा के माठाधीश आदिवासियों को नहीं जानते हैं। बाजार के उन्मादी भारतीय देशी हॉकी की शान जयपाल सिंह मुंडा को नहीं जानते हैं। जिन्होंने 1928 के आलंपिक में भारतीय हॉकी की कप्तानी की थी और स्वर्ण जीतकर लाए थे। यूनेस्को के अनुसार देश की 196 जन भाषाओं का अस्तित्व खतरे में है। इनमें अधिकाशं भारत की आदिवासी भाषाएं हैं। उनकी चिंता किसी को नहीं है। जान कर नहीं जानना सबसे बुरा है।

लेखिका महाश्वेता देवी ने अपने साहित्य को आदिवासी व वंचित समुदायों के जन–जीवन को गहराई से देखकर रचा और उनके संघर्ष को उभारने की कोशिश की। उन्होंने आदिवासी जीवन पर 'चोट्टि मुंडा और उसका तीर' उपन्यास लिखा। यह उपन्यास आदिवासी जीवन के साथ ही उनके जिस नायक के संघर्ष पर केन्द्रित है, वे है बिरसा मुंडा। 'चोट्टि मुंडा और उसका तीर' में महाश्वेता देवी ने आदिवासियों द्वारा अपनी आजादी छिन जाने की आहट से बेचैन होने और बिरसा मुंडा के नेतृत्व में उस आजादी को बचाने के संघर्ष को बड़ी खूबसूरती से गूंथा है। बिरसा मुंडा वास्तव में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की पहली लड़ाई के महानायक थे।

झारखंड में अंग्रेजों के आने से पहले झारखंडियों का राज था लेकिन अंग्रेजी शासन लागू होने के बाद झारखंड के आदिवासियों को अपनी स्वतंत्र और स्वायत्ता पर खतरा महसूस होने लगा।

आदिवासी सैकड़ों सालों से जल, जंगल और जमीन के सहारे खुली हवा में अपना जीवन जीते रहे हैं। आदिवासी समुदाय के बारे में ये माना जाता है कि वह दूसरे समुदाय की अपेक्षा अपनी स्वतंत्रता व अधिकारों को लेकर ज्यादा संवेदनशील रहा है। इसीलिए वह बाकी चीजों को खोने की कीमत पर भी आजादी के एहसास को बचाने के लिए लड़ता और संघर्ष करता रहा है। अंग्रेजों ने जब आदिवासियों से उनके जल, जंगल, जमीन को छीनने की कोशिश की तो उलगुलान यानी आंदोलन हुआ। इस उलगुलान का ऐलान करने वाले बिरसा मुंडा ही थे। बिरसा मुंडा ने 'अंग्रेजों अपने देश वापस जाओ' का नारा देकर उलगुलान का ठीक वैसे ही नेतृत्व किया जैसे बाद में स्वतंत्रता की लड़ाई के दूसरे नायकों ने इसी तरह के नारे देकर देशवासियों के भीतर जोश पैदा किया।

खास बात यह भी मानी जाती है कि बिरसा मुंडा से पहले जितने भी विद्रोह हुए वह जमीन बचाने के लिए हुए। लेकिन बिरसा मुंडा ने तीन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उलगुलान किया। पहला, वह जल, जंगल, जमीन जैसे संसाधनो की रक्षा करना चाहते थे। दूसरा, नारी की रक्षा और सुरक्षा तथा तीसरा, वे अपने समाज की संस्कृति की मर्यादा को बनाये रखना चाहते थे। 1894 में सभी मुंडाओं को संगठित कर बिरसा ने अंग्रेजों से लगान माफी के लिए आन्दोलन चलाया। 1895 में उन्हें गिरफ्तार कर हजारीबाग केन्द्रीय कारागार में दो साल के कारावास की सजा दी गई। दो साल बाद बिरसा जेल से बाहर आये तो उन्हें यह अनुभव हुआ कि विद्रोह के अलावा कोई दूसरा विकल्प नहीं है। क्योंकि ब्रिटिश सत्ता कानूनों की आड़ में आदिवासियों को घेर रही है और उनसे किसी राहत की मांग करना फिजूल है।

इतिहास गवाह है कि 1897 से 1900 के बीच मुंडाओं और अंग्रेज सिपाहियों के बीच युद्ध होते रहे। 1897 में बिरसा और उनके चार सौ साथियों ने तीर कमानों से खूंटी थाने पर धावा बोला। जंगलों में तीर और कमान उनके सबसे कारगर हथियार रहे हैं। 1898 में तांगा नदी के किनारे मुंडाओं की भिड़ंत अंग्रेजी सेनाओं से हुई जिसमें अंग्रेजी सेना हार गई। बाद में उस इलाके से बहुत से

आदिवासी नेताओं की गिरफ्तारियां हुई। जनवरी 1900 में डोमबाड़ी पहाड़ी पर एक संघर्ष हुआ था, जिसमें बहुत से बच्चे और औरतें भी मारे गये थे। उस जगह बिरसा अपनी जनसभा को संबोधित कर रहे थे। दरअसल बिरसा के जेल से आने के बाद अंग्रेजी सरकार ने समझ लिया कि बिरसा उनके लिए सबसे बड़ी चुनौती है। उन्हें घेरने की हर संभव कोशिश भी बेकार साबित हो रही थी। अंग्रेजी सरकार ने यह रणनीति बनाई कि कई तरह के अभावों से जुझ रहे आदिवासियों के बीच उस व्यक्ति की खोज की जाए जो कि सबसे कमजोर हो और जो उनके लालच में आ सकें।

4 फरवरी 1900 को जराई केला के रोगतो गांव के सात मुंडाओं ने 500 रुपये इनाम के लालच में सोते हुए बिरसा को खाट सहित बांधकर बंदगांव लाकर अंग्रेजों को सौंप दिया। अदालत में बिरसा पर झूठा मुकदमा चला और उसके बाद उन्हें जेल में डाल दिया गया। वहां उन्हें अंग्रेजों ने धीमा जहर दिया, जिससे 9 जून 1900 को बिरसा की मृत्यु हो गई। अंग्रेजों ने यह संदेश देने की कोशिश की उनकी मृत्यु स्वभाविक हुई, क्योंकि बिरसा की मौत की बजाय हत्या की खबर फैलती तो आदिवासियों के गुस्से को रोक पाना असंभव हो जाता।

बिरसा मुंडा का जन्म 15 नवम्बर 1875 को बिहार के उलीहातू गांव–जिला रांची में हुआ था। उन्होंने हिंदू और ईसाई धर्म दोनों की शिक्षा ली थी। बिरसा को 25 साल में ही आदिवासियों के सामाजिक और आर्थिक शोषण का काफी ज्ञान हो गया था। बिरसा मुंडा का जीवन सिर्फ 25 साल का रहा। उस समय के भगत सिंह बिरसा ही थे जिनसे सत्ता सबसे ज्यादा घबराती थी। बिरसा ने अपने छोटे से जीवन में अंग्रेजों के खिलाफ आदिवासियों को एकत्रित कर विद्रोह का सूत्र तैयार कर लिया और उन्हें आवाज उठाने की राजनीति सिखाई।

बिरसा हमेशा अपनी संस्कृति और धर्म को बचाना और बरकरार रखना चाहते थे। उन्होंने मुंडा परंपरा और सामाजिक संरचना को नया जीवन दिया। दरअसल यह स्थानीयता की सुरक्षा की राजनीतिक लड़ाई का एक रूप था। इसीलिए बिरसा मुंडा को न

केवल झारखंड में बल्कि समाज और राष्ट्र के नायक के रूप में देखा जाता है।

आदिवासी समाज की समस्याओं की जिस तरफ धकेला जा रहा है इसे बिरसा मुंडा ने पहले ही भांप लिया था। उन्हें यह लगा कि यह अंग्रेजों का राज का उनके जीवन में प्रवेश नहीं है बल्कि उनकी आजादी और आत्म निर्भरता में बाहरी आक्रमण है। झारखंड में बिरसा की बेड़ियों वाली प्रतिमाएं और तस्वीरें ही मिलती है। झारखंड के लोग बेडियों वाली तस्वीरें व प्रतिमाओं को ही अपनी प्रेरणा का स्रोत मानते हैं और इतिहास से खुद को जुड़ा महसूस करते हैं। महाश्वेता देवी ने उपन्यास लिखा है तो आजादी के इस महानायक के लिए आदिवासी समुदाय में कई गीत भी है। आदिवासी साहित्य में उलगुलान की ध्वनि आज भी गूंजती है। ●

● स्त्रियां जब डिप्रेशन में होती हैं तो खाना खाती हैं या खरीददारी पर निकल जाती हैं। पुरुष इस मनोदशा में किसी पर हमला करने निकल पड़ते हैं। सोच के ये दो अलग तरीके हैं। –एलैन बूज्लर

● नेकी से विमुख हो जाना और बदी करना निःसंदेह बुरा है, मगर सामने हंस कर बोलना और पीछे चुगलखोरी करना उससे भी बुरा है। –संत तिरुवल्लुर

● फल आने से वृक्ष झुक जाते हैं, वर्षा के समय बादल झुक जाते हैं, संपत्ति होने से सज्जन नम्र हो जाते हैं। परोपकारियों का स्वभाव ही ऐसा है। –तुलसीदास

● जब करुणा के नेत्र खुल जाते हैं तो व्यक्ति अपने को दूसरों में और दूसरों को अपने में देख सकने में समर्थ हो जाता है। –राजगोपालाचारी

● क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति भ्रांत हो जाती है, स्मृति भ्रांत होने से बुद्धि का नाश हो जाता है, और बुद्धि नष्ट होने पर प्राणी स्वयं नष्ट हो जाता है। –भागवत गीता

7

आदिवासी महानायक

बिरसा मुंडा

बिरसा मुंडा का जन्म 15 नवम्बर 1875 को रांची जिले के उलिहतु गाँव में हुआ था। मुंडा रीति रिवाज के अनुसार उनका नाम बृहस्पतिवार के हिसाब से बिरसा रखा गया था। उनका परिवार रोजगार की तलाश में उनके जन्म के बाद उलिहतु से कुरुमब्दा आकर बस गया। जहां वो खेतों में काम करके अपना जीवन चलाते थे। उनके पिता, चाचा, ताऊ सभी ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। बिरसा के पिता सुगना मुंडा जर्मन धर्म प्रचारकों के सहयोगी थे। बिरसा का बचपन अपने घर में, ननिहाल में और मौसी की ससुराल में बकरियों को चराते हुए बीता। बाद में उन्होंने कुछ दिन तक चाईबासा के जर्मन मिशन स्कूल में शिक्षा ग्रहण की। परन्तु स्कूलों में उनकी आदिवासी संस्कृति का जो उपहास किया जाता था, वह बिरसा को सहन नहीं हुआ। इस पर उन्होंने भी पादरियों का और उनके धर्म का भी मजाक उड़ाना शुरू कर दिया। फिर क्या था। ईसाई धर्म प्रचारकों ने उन्हें स्कूल से निकाल दिया।

बिरसा के जीवन में एक नया मोड़ आया। उनका स्वामी आनन्द पाण्डे से सम्पर्क हो गया और उन्हें हिन्दू धर्म तथा महाभारत के पात्रों का परिचय मिला। यह कहा जाता है कि 1895 में कुछ ऐसी आलौकिक घटनाएँ घटीं, जिनके कारण लोग बिरसा को भगवान का अवतार मानने लगे। लोगों में यह विश्वास दृढ़ हो गया कि बिरसा के स्पर्श मात्र से ही रोग दूर हो जाते हैं। वर्तमान भारत में रांची और सिंहभूमि के आदिवासी बिरसा मुंडा को अब 'बिरसा भगवान' कहकर याद करते हैं। मुंडा आदिवासियों को अंग्रेजों के दमन के विरुद्ध खड़ा करके बिरसा मुंडा ने यह सम्मान अर्जित किया था। 19वीं सदी में बिरसा भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में एक मुख्य कड़ी साबित हुए थे।

जन–सामान्य का बिरसा में काफी दृढ़ विश्वास हो चुका था, इससे बिरसा को अपने प्रभाव में वृद्धि करने में मदद मिली। लोग उनकी बातें सुनने के लिए बड़ी संख्या में एकत्र होने लगे। बिरसा ने पुराने अंधविश्वासों का खंडन किया। लोगों को हिंसा और मादक पदार्थों से दूर रहने की सलाह दी। उनकी बातों का प्रभाव यह पड़ा कि ईसाई धर्म स्वीकार करने वालों की संख्या तेजी से घटने लगी और जो मुंडा ईसाई बन गये थे, वे फिर से अपने पुराने धर्म में लौटने लगे।

बिरसा मुंडा ने किसानों का शोषण करने वाले जमींदारों के विरुद्ध संघर्ष की प्रेरणा भी लोगों को दी। उनका संघर्ष एक ऐसी व्यवस्था से था, जो किसानी समाज के मूल्यों और नैतिकताओं का विरोधी था। जो किसानी समाज को लूट कर अपने व्यापारिक और औद्योगिक पूंजी का विस्तार करना चाहता था। यह देखकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें लोगों की भीड़ जमा करने से रोका। बिरसा का कहना था कि मैं तो अपनी जाति को अपना धर्म सिखा रहा हूँ। इस पर पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार करने का प्रयत्न किया, लेकिन गांव वालों ने उन्हें छुड़ा लिया। शीघ्र ही वे फिर गिरफ्तार करके दो वर्ष के लिए हजारीबाग जेल में डाल दिये गये। बाद में उन्हें इस चेतावनी के साथ छोड़ा गया कि वे कोई प्रचार नहीं करेंगे।

परन्तु बिरसा कहाँ मानने वाले थे। छूटने के बाद उन्होंने अपने

अनुयायियों के दो दल बनाए। एक दल मुंडा धर्म का प्रचार करने लगा और दूसरा राजनीतिक कार्य करने लगा। नए युवक भी भर्ती किये गए। इस पर सरकार ने फिर उनकी गिरफ्तारी का वारंट निकाला, किन्तु बिरसा मुंडा पकड़ में नहीं आये। इस बार का आन्दोलन बलपूर्वक सत्ता पर अधिकार के उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ा। यूरोपीय अधिकारियों और पादरियों को हटाकर उनके स्थान पर बिरसा के नेतृत्व में नये राज्य की स्थापना का निश्चय किया गया।

भारत के इतिहास में बिरसा मुंडा एक ऐसे आदिवासी नायक हैं जिन्होंने झारखंड में अपने क्रांतिकारी विचारों से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आदिवासी समाज की दिशा बदलकर नवीन सामाजिक और राजनीतिक युग का सूत्रपात किया। अंग्रेजों द्वारा थोपे गए काले कानूनों को चुनौती देकर बर्बर ब्रिटिश साम्राज्य को सांसत में डाल दिया। बिरसा मुंडा ने महसूस किया कि आचरण के धरातल पर आदिवासी समाज अंधविश्वासों की आंधियों में तिनके–सा उड़ रहा है तथा आस्था के मामले में भटका हुआ है। यह भी अनुभव किया कि सामाजिक कुरीतियों के कोहरे ने आदिवासी समाज को ज्ञान के प्रकाश से वंचित कर दिया है। बिरसा जानते थे कि आदिवासी समाज में शिक्षा का अभाव है, गरीबी है, अंधविश्वास है। बलि प्रथा पर भरोसा है, हड़िया कमजोरी है, मांस–मछली पसंद करते हैं। समाज बंटा है, लोगों के झांसे में आ जाते हैं। धर्म के बिंदु पर आदिवासी कभी मिशनरियों के प्रलोभन में आ जाते हैं, तो कभी ढकोसलों को ही ईश्वर मान लेते हैं। इन समस्याओं के समाधान के बिना आदिवासी समाज का भला नहीं हो सकता इसलिए उन्होंने एक बेहतर नायक और समाज सुधारक की भूमिका अदा की। अंगरेजों और शोषकों के खिलाफ संघर्ष भी जारी रखा। उन्हें पता था कि बिना धर्म के सबको साथ लेकर चलना आसान नहीं होगा। इसलिए बिरसा ने सभी धर्मो की अच्छाइयों से कुछ न कुछ निकाला और अपने अनुयायियों को उसका पालन करने के लिए प्रेरित किया।

जनवरी 1900 डोमबाड़ी पहाड़ी पर एक और संघर्ष हुआ था

जिसमें बहुत से औरतें और बच्चे मारे गये थे। उस जगह बिरसा अपनी जनसभा को सम्बोधित कर रहे थे। बाद में बिरसा के कुछ शिष्यों की गिरफ्तारियां भी हुईं। अन्त में स्वयं बिरसा भी 3 फरवरी 1900 को चक्रधरपुर में गिरफ्तार कर लिये गये। ब्रिटिश हुकूमत ने इसे खतरे का संकेत समझकर बिरसा मुंडा को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया। वहां अंग्रेजों ने उन्हें धीमा जहर दिया था। जिस कारण 9 जून 1900 को बिरसा की मृत्यु हो गई। लेकिन लोक गीतों और जातीय साहित्य में बिरसा मुंडा आज भी जीवित हैं।

जिस समय महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका में रंगभेदी सरकार के खिलाफ लोगों को एकजुट कर रहे थे, लगभग उसी समय भारत में बिरसा मुंडा अंगरेजों–शोषकों के खिलाफ एक महत्वपूर्ण लड़ाई लड़ चुके थे। गांधी से लगभग छह साल छोटे बिरसा मुंडा का जीवन सिर्फ 25 साल का रहा। उनका संघर्ष काल भी सिर्फ पांच साल का रहा। लेकिन इसी अवधि में उन्होंने अंगरेजों–शोषकों के खिलाफ जो संघर्ष किया, जिस बिरसावाद को जन्म दिया, उसने बिरसा को अमर कर दिया। आज झारखंड की जो स्थिति है, आदिवासी समाज की समस्याएं हैं, उसे बिरसा ने सौ–सवा सौ साल पहले भांप लिया था। यह बताता है कि बिरसा कितने दूरदर्शी थे। इसलिए उन्हें भगवान बिरसा कहा जाता है।

आजादी के बाद हमने बिरसा मुंडा की शहादत को तो याद रखा, लेकिन हम उसके मूल्यों से दूर होते गये। हमारी सत्ताएं उसी व्यवस्था की पोषक होती गयीं, जिनके विरुद्ध हमारे योद्धाओं ने लड़ाई लड़ी। आज आदिवासी समाज किसानी समाज के मूल्य और पूंजीवादी समाज के मूल्य के बीच का संघर्ष है।

चूंकि हमारे देश में क्रांति नहीं हुई और आजादी के बाद पूंजी की दिशा में समाज का एक ध्रुवीय विस्तार होता गया, इसने फिर से उस पुराने द्वंद्व को आज हमारे सामने ला खड़ा किया है। हमारी व्यवस्था किसानी समाज और औद्योगिक समाज के बीच संतुलन बनाने के बजाय एक ध्रुवीय होकर केवल औद्योगिक मूल्यों का प्रसार करना चाहती है। चूंकि अब सत्ता पर किसानी नेतृत्व नहीं

रह गया है, इसलिए बहुत तेजी से किसानी मूल्यों को राजनीति के परिदृश्य से भी गायब किया जा रहा है।

अलग झारखंड राज्य के गठन के बाद यहां की राजनीति ने 'उलगुलान' के विचार को कभी आगे नहीं बढ़ाया, बल्कि उसका पूरा ध्यान खदान–खनन की ठेकेदारी, टेंडर पर केंद्रित हो गया। झारखंड से पलायन की मूल वजह भी यही है। अनियंत्रित और अबाध बाहरी हस्तक्षेप ने यहां की सामाजिक–सांस्कृतिक और आर्थिक संरचना को छिन्न–भिन्न कर दिया है।

आज की वैश्विक दुनिया में पूंजीवादी समाज सभी प्राकृतिक स्रोतों पर कब्जा कर लेना चाहता है। अब यह साम्राज्यवादी स्वरूप ग्रहण कर नव–उपनिवेश को जन्म दे रहा है और इसका सबसे बड़ा खतरा किसानी समाज पर ही मंडरा रहा है। ऐसे में बिरसा मुंडा की शहादत को याद करना प्रतिरोध के उन स्वरों को जीवित रखना है, जो सहभागी और सहजीवी मूल्यों के पक्षधर हैं।

जो लाभ पर नहीं, बल्कि साझेपन पर यकीन करते हैं। जब तक समाज से औपनिवेशिक शक्तियों को पराजित नहीं कर दिया जाता है, तब तक प्रतिपक्ष ही बिरसा मुंडा की विरासत का कर्णधार होगा। निस्संदेह यह प्रतिपक्ष किसी सदन का विपक्ष नहीं, बल्कि समाज के हाशिये में खड़े वंचितों का पक्ष है।

शबरी

शबरी जाति की भीलनी थी, उसका नाम था श्रमणा। बाल्यकाल से ही वह भगवान श्रीराम की अनन्य भक्त थी। उसे जब भी समय मिलता, वह भगवान की सेवा–पूजा करती। घर वालों को उसका व्यवहार अच्छा नहीं लगता। बड़ी होने पर श्रमणा के पिता ने विवाह निश्चित किया। लेकिन आदिवासियों की

एक प्रथा थी की किसी भी अच्छे कार्य से पहले निर्दोष जानवरों की बलि दी जाती थी। इसी प्रथा को पूरा करने के लिये इनके पिता शबरी के विवाह के एक दिन पूर्व सौ भेड़ बकरियाँ लेकर आये।

तब शबरी ने पिता से पूछा– पिताजी इतनी सारी भेड़ बकरियाँ क्यूँ लाये? पिता ने कहा– शबरी यह एक प्रथा है जिसके अनुसार कल प्रातः तुम्हारी विवाह की विधि शुरू करने से पूर्व इन सभी भेड़ बकरियों की बलि दी जायेगी। यह कहकर उसके पिता वहाँ से चले जाते हैं। प्रथा के बारे में सुन शबरी को बहुत दुःख होता है और वो पूरी रात उन भेड़ बकरियों के पास बैठी रही और उनसे बाते करती रही। उसके मन में एक ही विचार था कि कैसे वो इन निर्दोष जानवरों को बचा पाये।

तब ही एकाएक शबरी के मन में ख्याल आता है और वो सुबह होने से पूर्व ही अपने घर से भागकर जंगल चली गई जिससे वो उन निर्दोष जानवरों को बचा सके। शबरी भलीभांति जानती थी, अगर एक बार वो इस तरह से घर से जायेगी तो कभी उसे घर वापस आने का मौका नहीं मिलेगा फिर भी शबरी ने खुद से पहले उन निर्दोषों की सोची। घर से निकल कर शबरी एक घने जंगल में जा पहुँची।

अकेली शबरी जंगल में भटक रही थी तब उसने शिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से कई गुरुवरों के आश्रम में दस्तक दी, लेकिन शबरी तुच्छ जाति की थी इसलिये उसे सभी ने दुत्कार के निकाल दिया। शबरी भटकती हुई मतंग ऋषि के आश्रम पहुंची और उसने अपनी शिक्षा प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की। मतंग ऋषि ने शबरी को सहर्ष अपने गुरुकुल में स्थान दे दिया।

शबरी ने गुरुकुल के सभी आचरणों को आसानी से अपना लिया और दिन रात अपने गुरु की सेवा में लग गई। शबरी जतन से शिक्षा ग्रहण करने के साथ–साथ आश्रम की सफाई, गौ शाला की देख रेख, दूध दोहने के कार्य के साथ सभी गुरुकुल के वासियों के लिये भोजन बनाने के कार्य में लग गई।

कई वर्ष बीत गये, मतंग ऋषि शबरी की गुरु भक्ति से बहुत प्रसन्न थे। मतंग ऋषि का शरीर दुर्बल हो चूका था इसलिये उन्होंने

एक दिन शबरी को अपने पास बुलाया और कहा– पुत्री मेरा शरीर अब दुर्बल हो चूका है, इसलिये मैं अपनी देह यहीं छोड़ना चाहता हूँ, लेकिन उससे पहले मैं तुम्हे आशीर्वाद देना चाहता हूँ बोलो पुत्री तुम्हे क्या चाहिये? आँखों में आसूं भरकर शबरी मतंग ऋषि से कहती है– हे गुरुवर आप ही मेरे पिता है, मैं आपके कारण ही जीवित हूँ, आप मुझे अपने साथ ही ले जाये। तब मतंग ऋषि ने कहा– नहीं पुत्री तुम्हे मेरे बाद मेरे इस आश्रम का ध्यान रखना है। तुम जैसी गुरु परायण शिष्या को उसके कर्मो का उचित फल मिलेगा। एक दिन भगवान राम तुम से मिलने यहाँ आयेंगे और उस दिन तुम्हारा उद्धार होगा और तुम्हे मोक्ष की प्राप्ति होगी। इतना कहकर मतंग ऋषि अपनी देह त्याग कर समाधि ले लेते हैं।

उसी दिन से शबरी हर रोज प्रातः उठकर बाग जाती, ढेर सारे फल इकठ्ठा करती, सुंदर–सुंदर फूलों से अपना आश्रम सजाती क्योंकि उसे भगवान राम के आने का कोई निश्चित दिन नहीं पता था, उसे केवल अपने गुरुवर की बात पर यकीन था इसलिये वो रोज श्री राम के इंतजार में समय बिता रही थी। वो रोजाना यही कार्य करती थी।

एक दिन शबरी आश्रम के पास के तालाब में जल लेने गई, वहीं पास में एक ऋषि तपस्या में लीन थे। जब उन्होंने शबरी को जल लेते देखा तो उसे अछूत कहकर उस पर एक पत्थर फेंक कर मारा और उसकी चोट से बहते रक्त की एक बूंद से तालाब का सारा पानी रक्त में बदल गया। यह देखकर संत शबरी को बुरा भला और पापी कहकर चिल्लाने लगा। शबरी रोती हुई अपने आश्रम में चली गई। उसके जाने के बाद ऋषि फिर से तप करने लगा उसने बहुत से जतन किये लेकिन वो तालाब में भरे रक्त को जल नहीं बना पाया। उसमे गंगा, यमुना सभी पवित्र नदियों का जल डाला गया लेकिन रक्त जल में नहीं बदला।

कई वर्षों बाद, जब भगवान राम सीता की खोज में वहां आये तब वहाँ के लोगो ने भगवान राम को बुलाया और आग्रह किया कि वे अपने चरणों के स्पर्श से इस तालाब के रक्त को पुनः जल में बदल दें। राम उनकी बात सुनकर तालाब के रक्त को चरणों से

स्पर्श करते हैं लेकिन कुछ नहीं होता। ऋषि उन्हें जो–जो करने बोलते हैं, वे सभी करते हैं लेकिन रक्त जल में नही बदला। तब राम ऋषि से पूछते हैं– हे ऋषिवर मुझे इस तालाब का इतिहास बताये।

तब ऋषि उन्हें शबरी और तालाब की पूरी कथा बताते हैं और कहते हैं– हे भगवान यह जल उसी शुद्र शबरी के कारण अपवित्र हुआ है।

तब भगवान राम दुखी होकर कहा– हे गुरुवर, यह रक्त उस देवी शबरी का नही मेरे ह्रदय का है जिसे तुमने अपने अपशब्दों से घायल किया है। भगवान राम ऋषि से आग्रह करते हैं कि मुझे देवी शबरी से मिलना है। तब शबरी को बुलावा भेजा जाता है। राम का नाम सुनते ही शबरी दौड़ी चली आती हैं। 'राम मेरे प्रभु' कहती हुई जब वो तालाब के समीप पहुँचती है तब उसके पैर की धूल तालाब में चली जाती है और तालाब का सारा रक्त जल में बदल जाता है। तब भगवान राम कहते हैं– देखिये गुरुवर आपके कहने पर मैंने सब किया लेकिन यह रक्त भक्त शबरी के पैरों की धूल से जल में बदल गया।

शबरी जैसे ही भगवान राम को देखती हैं उनके चरणों को पकड़ लेती हैं और अपने साथ आश्रम लाती हैं। उस दिन भी शबरी रोज की तरह सुबह से अपना आश्रम फूलों से सजाती हैं और बाग से चख– चख कर सबसे मीठे बेर अपने प्रभु राम के लिये चुनती हैं। वो पूरे उत्साह के साथ अपने प्रभु राम का स्वागत करती हैं और बड़े प्रेम से उन्हें अपने जूठे बेर परोसती हैं। भगवान राम भी बहुत प्रेम से उसे खाने उठाते हैं, तब उनके साथ गये लक्ष्मण उन्हें रोककर कहते हैं' भ्राता ये बेर जूठे हैं। तब राम कहते हैं– लक्ष्मण यह बेर जूठे नहीं सबसे मीठे हैं, क्योंकि इनमे प्रेम हैं और वे बहुत प्रेम से उस बेर को खाते हैं। मतंग ऋषि का कथन सत्य होता है और देवी शबरी को मोक्ष की प्राप्ति होती है। ●

8

आदिवासी महिला

आदिवासी समाज में महिलाओं का बराबरी का स्थान है पर बाहरी समाज अक्सर छींटाकशी करता है कि इसमें महिलाओं का शोषण होता है। जनगणना के नवीनतम आंकड़ों से स्पष्ट है कि आदिवासी बहुल राज्यों में लिंग अनुपात की स्थिति विकसित कहे जाने वाले राज्यों से बेहतर है। आदिवासी दर्शन के मूल तत्वों में समानता, सामूहिकता, मतैक्य व प्रकृति के साथ जुड़ाव समाहित है, जो महिलाओं के साथ समान व्यवहार के बिना संभव नहीं हो सकते। इस समाज की हर व्यवस्था मे महिलाओं को समुचित स्थान दिया गया है।

आदिवासी लोककथा में उल्लेख मिलता है कि स्त्री–पुरुष दोनों का आगमन धरती पर एक साथ हुआ है। दोनों ने मिल कर समाज–संस्कृति को विकसित किया है। इसलिए आदिवासी समाज में स्त्री को पुरुषों पर आश्रित समूह के रूप में नहीं देखा जाता। यदि कहीं असमानता दिखती है, तो यह अपनी परंपरा व संस्कृति को भूलने के कारण है। आदिवासी महिलाओं को बाहरी बहकावे में नहीं आना चाहिए। आदिवासियों की आर्थिक व्यवस्था महिलाओं के

बिना नहीं चल सकती। दुनिया भर के आदिवासियों की आजीविका वनोपज अथवा कृषि पर निर्भर है। इन दोनों कार्यो में महिलाओं व पुरुषों की समान भागीदारी आवश्यक है।

आदिवासी समाज में स्त्रियों की बात होती है तो ऐसा माना जाता है कि आदिवासी स्त्रियाँ अन्य समाज की तुलना में अधिक स्वतंत्र होती हैं। भारत की संस्कृति में महिलाओं की जो स्थिति है, आदिवासी संस्कृति में महिलाओं की स्थिति उससे बहुत भिन्न नहीं है। आम धारणा है कि आदिवासी महिलाएँ अधिकार संपन्न तथा बराबर की हकदार हैं, किन्तु ऐसी बात नहीं है। वस्तु स्थिति कुछ और ही है। दरअसल आदिवासी समाज सामूहिकता और समानता में विश्वास रखता है।

जंगलों एवं पहाड़ो की गोद में रहने वाले आदिवासी लोग काफी पुरानी परम्पराओ को मानते है। इनके रहन सहन और इनका शरीर प्रकति से इस प्रकार जुड़ा हुआ होता है की ये लोग कहीं और रहने के बारे में सोच भी नहीं सकते। आदिवासी महिलाएं खासतौर पर प्रकृति से जुडी हुई होती है प्रकृति के साथ ये नजदीकी इन महिलाओ को यौवन प्रदान करती है। आदिवासी समुदाय में महिलाए बड़ी ही सशक्त होती है इन्हें देखकर आप और हम सशक्त भारत की महिलाओ की कल्पना भी कर सकते है। ये महिलाएं जानती है कि अपने दम पर अपने परिवार का पालन पोषण किस प्रकार किया जाता है। आदिवासी महिलाएं सशक्त इसीलिए है क्योंकि उन आदिवासी समुदाय ने जीने के निर्धारित आयाम नहीं दिए है वो उन्मुक्त है।

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व आदिवासी समाज में स्त्रियाँ सभ्य और सुसंस्कृत कहे जाने वाले समाज से ज्यादा स्वतंत्र होती थीं। लेकिन अंग्रेजों के आने के पश्चात् धीरे–धीरे उस सामूहिकता का टूटन हुआ। उस सामूहिकता के टूटन में पितृसत्तात्मक व्यवस्था मजबूत हुई। पितृसत्तात्मक व्यवस्था को और भी मजबूत करने का वैधानीकरण अंग्रेजों ने राजस्व की नीति लागू कर के कर दिया। अंग्रेजों के पहले आदिवासी समाज में सम्पत्ति नाम की कोई अवधारणा नहीं थी। लेकिन कालान्तर में जब अंग्रेजों ने राजस्व

की नई नीति बनाई और जमीन के पट्टे जमींदारों के नाम लिखे, समस्या तब पैदा हुई। अब चूँकि जमीन पुरुषों के नाम से लिखी गई, तो उसमें किसी भी आदिवासी मुखिया या मांझी–हाड़ाम या प्रधान ने औरतों के नाम खाते में यह कहकर नहीं चढ़ने दिए कि ये तो दूसरे के घर चली जाएगी। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के ठेकेदारों ने अपने इस तर्क को मजबूत बनाने के लिए इसका मिथकीकरण किया और अब संथाल आदिवासी समाज की मान्यता है कि उनके पूर्वजों की प्रेतात्माओं को अपने उत्तराधिकारियों से अन्न जल मिलता है, लड़की पराया धन है, वह जब शादी के बाद चली जाएगी तो उन्हें अन्न–जल कौन देगा? इसलिए पुरुषों को ही उत्तराधिकारी बनाया गया ताकि उन प्रेतात्माओं को हमेशा अन्न–जल मिलता रहे।

जब गैर आदिवासी समाज आदिवासी क्षेत्र में जमीनों के पट्टे लिखाकर और सूदखोर बनकर प्रवेश करने लगा तब से जमीनें और जंगल गैर आदिवासियों के पास हस्तांतरित होने शुरू हुए, विशेषतया झारखंड, छत्तीसगढ़ क्षेत्रों में। तब से दूसरे समाज की सारी विकृतियाँ इस समाज में प्रवेश करने लगीं और सामूहिक प्रवृत्ति की जगह वर्चस्ववादी प्रवृत्ति की शुरूआत हुई है।

भूमंडलीकरण और उपभोक्तावादी संस्कृति से गहरे स्तर पर प्रभावित होते आदिवासी समाज में भी उन विकृतियों को जगह मिली और अन्य समाजों की तरह वहाँ भी स्त्री एक 'वस्तु' के रूप में परिवर्तित होने लगी। पितृसत्ता ने वहाँ भी अपनी कद काठी मजबूत कर ली। कुछ जगहों पर आज भी मातृसत्तात्मक व्यवस्थाएँ हैं लेकिन वह भी 'रबर स्टाम्प' की ही तरह काम करती हैं। ऐसे में कई जनजातियों में आज भी मातृसत्ता जारी है लेकिन अधिकांशतः जनजातियाँ पितृप्रधान समाज को ही मानती हैं, जहाँ मातृप्रधान सत्ता है, वहाँ भी गोत्र भले माँ के नाम से चलता है और कहीं–कहीं सम्पत्ति की अधिकारी भी पुत्री होती है, इसके बावजूद उस समाज में भी पिता या मामा ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। बात पुरुष की ही चलती है। इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए संविधान ने भी अपनी संतुष्टि दे दी है। अंग्रेजों ने संथाली

प्रथागत कानून को वैध ठहराते हुए संताली औरतों को जमीन पर अधिकार से वंचित कर दिया, आज जबकि आजादी के इतने साल बाद भी भारतीय संविधान में कितने संशोधन हुए, संथाली प्रथागत कानून में कोई बदलाव नहीं हुआ। इस वैज्ञानिक और तर्कसंगत समय में जब कई समुदाय विकास की नई ऊँचाइयाँ छू रहे हैं, संथाली समाज पूरी तरह से इस प्रथागत कानून में बँधा हुआ है जिसका सर्वाधिक नुकसान आदिवासी औरतों को हो रहा है।

आदिवासी समाज में भी स्त्रियों का शोषण करने के लिए विभिन्न तरह के तर्क पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने बनाए हैं। समाज ने स्त्रियों को कुछ काम करने से मना किया, उसके लिए पुरुष समाज ने यह तर्क दिया है कि शारीरिक बनावट के आधार पर यह विभाजन किया गया है। लेकिन ऐसा नहीं की आदिवासी समाज में पितृसत्ता को बनाए रखने के लिए यह तर्क दिया गया है। यह एक तरह से स्त्रियों के ऊपर अधिकार जताने जैसा ही है। आदिवासी समाज में स्त्रियों को हल चलाना, घर का छप्पर छाना और धनुष चलाना वर्जित है। इन चीजों पर अगर हम गौर करेंगे तो पाएँगे कि यह चीजें जमीन और सम्पत्ति की प्रतीक है और यह वर्जनाएँ इस बात का द्योतक हैं कि सम्पत्ति पर पुरुषों का ही अधिकार रहे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पितृसत्तात्मक समाज ने सारे नियम अपने हितों के लिए बनाए हैं, जब मन करता है तो तोड़ देता है, जब मन करता है तो उसे लागू कर देता हैं।

आदिवासी समाज की स्त्रियों को उनके प्रथागत कानूनों के आधार पर संपत्ति के अधिकार से वंचित रहने देना सरासर अन्याय है। हो सकता है कि कानून परिवर्तन से सम्बन्धों में कुछ खटास पैदा हो या विरोध हो लेकिन यह भी सत्य है कि जब भी बुनियादी ढाँचे में परिवर्तन हुआ या दबे कुचले लोगों को अधिकार मिला तो समकालीन जड़ समाज अपना आतंक फैलाता है पर सकारात्मक परिवर्तन के लिए समाज व कल्याणकारी सरकार को डटकर मुकाबला करना ही होगा।

संपत्ति के अधिकार से वंचित रखने का एक और तर्क जो आदिवासी पुरुष सत्ता द्वारा दिया गया कि स्त्रियों का विवाह

गैर–आदिवासी से हो जाएगा तो वह जमीन गैर–आदिवासी की हो जाएगी। लेकिन यह तर्क मजबूत तर्क नहीं है। आदिवासियों की जमीन दारू के बदले पुरुष समाज ही गैर आदिवासियों को हस्तान्तरित कर देते आया है। इसलिए उनका यह तर्क कि स्त्री को सम्पत्ति में हक मिल जाने से स्त्रियों द्वारा गैर–आदिवासियों के साथ विवाह करने पर जमीन का हस्तांतरण हो जाएगा गलत है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था को यह हजम नहीं होगा, इसलिए यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि आदिवासी समाज में भी पितृसत्ता का बोलबाला है।

आदिवासी समाज ने स्त्रियों को उतने ही अधिकार दिए हैं जितने से उसके हितों का हनन न हो। पूर्वोत्तर राज्यों में आदिवासी समुदाय की स्त्री की हालत थोड़ी ठीक है। मेघालय का राज्य मातृ प्रधान सत्ता को मानता है। वहाँ खासी समाज में सम्पत्ति पर बेटियों का अधिकार होता है। बोडो समाज में बेटियों को अधिकार मिले हुए हैं। इसी तरह से मिजो समाज में भी वंश माँ के गोत्र से ही चलता है, इतना ही नहीं मिजोरम में स्त्री भी हल चलाती है।असम के कार्बी समाज में स्त्रियों के श्राद्ध का रस्म का पूरा संचालन औरतों के हाथ में ही होता है।

झारखंड में आदिवासी समाज में 'पौन प्रथा' प्रचलन में है जिसमें पुरुष को ही वधू के लिए कन्या शुल्क देना पड़ता है, तभी उसकी शादी हो सकती है। उपरोक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आदिवासियों ने अपनी स्त्रियों को कुछ अधिकार तो दिए हैं जो सामान्यतः तथाकथित मुख्यधारा वाले समाज ने अपनी स्त्रियों को नहीं दिए हैं लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि आदिवासी समाज में स्त्रियों का शोषण नहीं होता। यहाँ शोषण के स्तर भिन्न हो सकते हैं।

आदिवासी महिलाएँ बहुत मेहनती और संघर्षशील होती हैं जिसका फायदा अन्य समाज के लोग उठाते हैं। आदिवासी समाज एनजीओ संस्थाओं के लिए वरदान की तरह है। आदिवासी इलाकों में एनजीओ सामाजिक विकास के नाम पर कुकुरमुत्ते की तरह फैले हैं। वहाँ उन केंद्रों पर आदिवासी महिलाओं को काम पर रखते हैं

और उनका शोषण करते हैं। आदिवासी बहुल इलाकों में फील्डवर्कर के रूप में लगभग 70 प्रतिशत कार्यकर्ता आदिवासी महिलाओं को बनाते हैं, बाकी 30 प्रतिशत गैर–आदिवासी स्त्री–पुरुष कार्यकर्ता है। जो एनजीओ समाज को शोषण से मुक्ति दिलाने की बात करते हैं, वहीं दूसरी तरफ खुद अपने कार्यकर्ताओं का शोषण करते हैं और यह शोषण केवल मानसिक स्तर पर नहीं होता बल्कि शारीरिक स्तर पर भी होता है। विडम्बनापूर्ण स्थिति यह है कि उन महिलाओं की कहीं सुनवाई भी नहीं होती। आदिवासी स्त्रियों को उनके पति ग्राम–प्रधानों से पैसे लेकर बेच देते हैं और ग्राम प्रधान इन्हें शहरों में भेज देता है।

निर्दोष औरत दंड देने के लिये मोहरे की तरह इस्तेमाल की जाये ये कहां का न्याय है? वैसे भी आदिवासी औरतो की जो स्थिति पहले थी अब वह नहीं रह गई है। उन्हें नीची नजर से देखा जाता है। उन्हे संपत्ति पर कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। धार्मिक मामलों में उन्हें बाहर रखा जाता है। निर्णय लेने मे भी उनकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका नही है, जैसी परिवार मे आदिवासी पुरुषों की है। आदिवासी आंदोलनो मे औरतो की काफी सक्रिय भूमिका रही है। लेकिन इसके बावजूद आदिवासी महिलाओं का कोई विशेष नेतृत्व नही रहा। कई जगहो पर आदिवासी महिलाओं ने बहुपत्नी प्रथा के खिलाफ और संपत्ति मे अपने अधिकार के लिये आवाज उठाई है। हालाँकि ऐसा करना उनकी जागरुकता का संकेत है लेकिन आखिर घटनाएं तो हो ही रही हैं। इस नये दौर मे भी बलात्कार, निर्वस्त्र घुमाया जाना, संपत्ति से वंचित करना, डायन बताकर मार ड़ालना या प्रताड़ित करना, उनकी संपत्ति छीन लेना यह सब तो भुगतना पड़ ही रहा है आदिवासी औरतों को।

इसी तरह गैर–आदिवासी पुरुष भी भोली–भाली आदिवासी स्त्रियों को शादी का झाँसा देकर देह शोषण करते हैं। फिर भाग जाते हैं। आदिवासी स्त्रियों की यह हालत उनके अशिक्षित होने के नाते भी होता है। 2011 की जनगणना के अनुसार झारखंड में पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों की साक्षरता दर लगभग 22 प्रतिशत से कम है, जो अत्यन्त निराशाजनक है। आदिवासी स्त्रियों की इस

हालत को शिक्षा के माध्यम से उनके अन्दर चेतना जगा कर सुधारा जा सकता है। हालाँकि आदिवासी स्त्री अन्याय के प्रति सदियों से जूझती आ रही है और आज भी लड़ रही है। आदिवासी स्त्रियाँ अपनी व्यथा अब खुद बयान करने लगी हैं। अब तक जो अनकहा था वह अब कहा जा रहा है। जरूरत है एक संगठित आवाज की जो समाज में क्रान्तिकारी बदलाव की पृष्ठभूमि तैयार करे और इसमें सरकार और विकास कार्यों की भूमिका भी महती होगी।

आदिवासी समाज मे औरतों का खास दर्जा है। उन्हे सम्मान और इज्जत से जीने का पूरा हक है। कुप्रथाएँ कहां नही होती? अगर उन्हें नजर अंदाज करें तो तो आदिवासी समाज मे स्त्रियों को दहेज के लिये प्रताड़ित नही किया जाता। शादी और तलाक को लेकर भी उनके अपने अधिकार है। वे मर्दों के साथ खेती जंगल पशुपालन आदि कामो मे बराबरी का हिस्सा लेती हैं। कुछ मातृसत्तात्मक समुदाय अभी भी हैं खासी, गारो और लक्षद्वीप की जन जातियो मे संपत्ति की स्वामी स्त्रियाँ ही होती हैं। इनका समाज महिला प्रधान समाज है और वंश माता के नाम पर ही चलता है। विवाह के बाद कन्या ससुराल नही जाती। पति उसके घर बिदा होकर आता है। मेघालय में खासी और गारो जनजाति में यह प्रथा प्रचलित है। शिलांग के बाजारो में औरते ही दुकानदार होती है और औरते ही ग्राहक भी। इस बाजार को माइती बाजार यानी मां का बाजार कहते हैं। होटल, रेस्टारेंट भी औरतें ही चलाती है। ये बड़ी मिलनसार और हँसमुख होती हैं।

बिहार, मध्य प्रदेश के आदिवासी इलाकों में घोटुल (एक ऐसा आदिवासी क्लब जिसमें युवक युवती अपना मनपसंद साथी चुनते हैं और बुजुर्गो से अनुमति लेते हैं) की तर्ज पर एक प्रथा प्रचलित है दावा बूँदी, यानी तलाक। इस प्रथा के अनुसार दोनों पक्षों को अपना फैसला पंचों को बताना होता है। पंच पूर्व पति को विवाह में हुए खर्च का भुगतान करवा कर एक बैठक में किसी फलदार वृक्ष की टहनी को दोनों पक्षों से तुड़वा देते है और यह मान लिया जाता है कि अब इनके बीच तिनके के बराबर भी रिश्ता नहीं रहा। विश्व के अन्य देशों में भी आदिवासियों के अपने कानून हैं।

पाकिस्तान के मुल्तान जिले के दूरदराज इलाके में मास्तोई जाति के आदिवासियों मे यदि कोई अपराध पुरुष से हो जाता है तो उसकी सजा उसे नहीं बल्कि उसके घर की किसी स्त्री को दी जाती है। न्याय की यह क्रूर परँपरा आज भी जारी है। आदिवासी कबीले में जानवरो की चोरी, कबाइली रंजिशो, हत्याओं और अवैध संबंधों के खिलाफ दंड़ का यही प्रावधान है। ●

चाणक्य के सूक्ति वाक्य

- दूसरों की गलतियों से सीखो अपने ही ऊपर प्रयोग करके सीखने को तुम्हारी आयु कम पड़ेगी।
- किसी भी व्यक्ति को बहुत ईमानदार नहीं होना चाहिए–सीधे वृक्ष और व्यक्ति पहले काटे जाते हैं।
- अगर कोई सर्प जहरीला नहीं है तब भी उसे जहरीला दिखना चाहिए वैसे दंश भले ही न दो पर दंश दे सकने की क्षमता का दूसरों को अहसास करवाते रहना चाहिए।
- हर मित्रता के पीछे कोई स्वार्थ जरूर होता है–यह कड़ुआ सच है।
- कोई भी काम शुरू करने के पहले तीन सवाल अपने आपसे पूछो–मैं ऐसा क्यों करने जा रहा हूँ? इसका क्या परिणाम होगा? क्या मैं सफल रहूँगा?
- भय को नजदीक न आने दो अगर यह नजदीक आये इस पर हमला कर दो यानी भय से भागो मत इसका सामना करो।
- दुनिया की सबसे बड़ी ताकत पुरुष का विवेक और महिला की सुन्दरता है।
- काम का निष्पादन करो , परिणाम से मतडरो।
- सुगंध का प्रसार हवा के रुख का मोहताज होता है पर अच्छाई सभी दिशाओं में फैलती है।
- ईश्वर चित्र में नहीं चरित्र में बसते हैं अपनी आत्मा को मंदिर बनाओ।
- व्यक्ति अपने आचरण से महान होता है जन्म से नहीं।
- ऐसे व्यक्ति जो आपके स्तर से ऊपर या नीचे के हैं उन्हें दोस्त न बनाओ, वह तुम्हारे कष्ट का कारण बनेंगे। सामान स्तर के मित्र ही सुखदाई होते हैं।
- अपने बच्चों को पहले पांच साल तक खूब प्यार करो, छः साल से पंद्रह साल तक कठोर अनुशासन और संस्कार दो, सोलह साल से उनके साथ मित्रवत व्यवहार करो, आपकी संतति ही आपकी सबसे अच्छी मित्र है।
- अज्ञानी के लिए किताबें और अंधे के लिए दर्पण एक सामान उपयोगी है।
- शिक्षा सबसे अच्छी मित्र है। शिक्षित व्यक्ति सदैव सम्मान पाता है। शिक्षा की शक्ति के आगे युवा शक्ति और सौंदर्य दोनों ही कमजोर हैं।

9

आदिवासी और पर्यावरण

पर्यावरण को सिर्फ वैज्ञानिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिकोण से देखा जाता रहा है। परंतु अब इसे धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टिकोण से देखने की जरूरत है। धरती मां की सुरक्षा के लिए व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तर काम होने चाहिए। पर्यावरण के बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। आदिवासी ही जल, जंगल और जमीन बचाने में लगे हैं। अन्य समुदाय के लोगों को लगता है कि आदिवासियों का ही पर्यावरण बचाने का काम है। सच भी यह है जहां आदिवासी हैं उन्हीं इलाकों में पेड़–पौधे और जंगल अधिक हं। आदिवासी जिस जगह खत्म होंगे, अन्य समुदाय के लोगों पर आफत आ जायेगी। इसके परिणाम तो अब दिखने भी लगे हैं। समाज को पर्यावरण संरक्षण के व्यापक स्तर पर काम करना होगा। पर्यावरण और आदिवासी दोनों को बचाने के लिए सरकार को गंभीर प्रयास करने होंगे। इसके बिना जीवन मुश्किल हो जायेगा। आदिवासी जमीन और जंगल के बीच जीते हैं।

वर्षा के पानी को अब तक रोकने समुचित व्यवस्था नहीं की गयी। कुआं और तालाब अधिक बनने चाहिए। ग्लोबल वार्मिंग ने पृथ्वी के विनाश की तैयारी कर ली है। जिससे जलवायु परिवर्तित

हो रहा है। मौसम परिवर्तन से लोग पलायन भी कर रहे हैं। इससे बचाव के हमें पर्यावरण को संतुलित और शुद्ध रखने की जरूरत है। पर्यावरण को बचाना है तो जंगल को धार्मिकता से जोड़ना होगा। सरकार को वनाधिकार कानून को जमीनी स्तर पर उतारने की जरूरत है।

पर्यावरण समस्या जिसे इंसानों को खुद ही समझने की बात है। आप केवल प्रकृति को ही बचाने के लिए नहीं बल्कि अपने आप को बचाने के लिए प्रयास कर रहे हैं। आपका अस्तित्व भी प्रकृति के साथ है। अगर हम वर्तमान समस्या को सुलझाना चाहते है तो जरूरत है कि जिस बाजार व्यवस्था से समस्या उत्पन्न हुई है उसी बाजार व्यवस्था से समाधान ढूंढ़ने का प्रयास न करे, समाधान के लिए उनकी ओर न देखे, जिन्होंने इस दुनिया को गर्त में लाकर खड़ा कर दिया है।

जंगलों की कीमत खरबों, आदिवासी फिर भी गरीब है। औद्योगिकीकरण के नाम पर जंगलों की कटाई से पर्यावरण का असंतुलन बिगड़ा है। जंगलों के बढ़ते औद्योगिक उपयोग ने पर्यावरण प्रेमियों की चिंता बढ़ाई है तो इससे जंगलों में रहने वाले आदिवासियों का विस्थापन भी बढ़ा है। आदिवासी समुदाय अपनी परंपराओं और संस्कृति के खत्म होने की चिंता कर रहा है।

जंगलों और नदियों के संरक्षण से ही प्रकृति का संतुलन बनता है किन्तु विकास की जिस परिभाषा का आज के दौर में सरकारें पालन कर रही हैं उससे आदिवासियों के जीवन में आमूल चूल परिवर्तन आ रहा है। कुछ परिवर्तन तो ऐसे हैं जो आदिवासी जन जातियों को जंगलों के साथ साथ उनकी अपनी संस्कृति से भी दूर कर रहे हैं। इसका मुख्य कारण है एक तरफ जंगलों की अवैध कटाई की जा रही है, विस्थापितों के लिए कोई दीर्घकालिक योजना न होना भी समस्या का मूल कारण है।

भारत के जंगल समृद्ध हैं, आर्थिक रूप से और पर्यावरण की दृष्टि से भी। देश के जंगलों की कीमत लगभग 1150 खरब रुपये आंकी गई है। ये भारत के सकल राष्ट्रीय उत्पाद से तो कम है लेकिन कनाडा, मेक्सिको और रूस जैसे देशों के सकल उत्पाद से

ज्यादा है। इसके बावजूद यहां रहने वाले आदिवासियों के जीवन में आर्थिक दुश्वारियां मुंह बाये खड़ी रहती हैं। आदिवासियों की विडंबना यह है कि जंगलों के औद्योगिक इस्तेमाल से सरकार का खजाना तो भरता है लेकिन इस आमदनी के इस्तेमाल में स्थानीय आदिवासी समुदायों की भागीदारी को लेकर कोई प्रावधान नहीं है।

जंगलों के बढ़ते औद्योगिक उपयोग ने आदिवासियों को जंगलों से दूर किया है। आर्थिक जरूरतों की वजह से आदिवासी जनजातियों के एक वर्ग को शहरों का रुख करना पड़ा है। विस्थापन और पलायन ने आदिवासी संस्कृति, रहन–सहन, खान–पान, रीति–रिवाज और संस्कार को बहुत हद तक प्रभावित किया है। गरीबी, अशिक्षा और बेरोजगारी के चलते आज का विस्थापित आदिवासी समाज, खासतौर पर उसकी नई पीढ़ी, अपनी संस्कृति से लगातार दूर होती जा रही है। अपनी संस्कृति को बचाने के लिए आदिवासी समाज को एक साथ पहल करनी होगी।

आधुनिक शहरी संस्कृति के संपर्क ने आदिवासी युवाओं को एक ऐसे दोराहे पर खड़ा कर दिया है, जहां वे न तो अपनी संस्कृति बचा पा रहे हैं और न ही पूरी तरह मुख्यधारा में ही शामिल हो पा रहे हैं। समाजशास्त्री डॉ साहिब लाल कहते हैं कि जंगल को अपना घर समझने वाले जनजातियों के विस्थापन के दर्द को किसी मुआवजे से दूर नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार आदिवासी, अपने जीवन, आजीविका और सांस्कृतिक पहचान के लिए जंगलों पर निर्भर हैं। जंगलों से दूर होते ही विस्थापित आदिवासी समुदाय कई अन्य समस्याओं की गिरफ्त में आ जाता है।

दुनियाभर में कोशिशें की जाती है कि लोगों को अपने आस–पास के पर्यावरण के प्रदूषित होने से बचाने की सीख दी जाए। कई बड़ी–बड़ी योजनाओं और विषय से जुड़े आंकड़ों को अखबारों, मीडिया और तमाम संचार माध्यमों से आमजनों तक पहुंचाया जाता है। हजारों की तादाद में वृक्षारोपण किए जाते हैं, परिचर्चाओं का आयोजन किया जाता है और टीवी पर भी कई ऐसे कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं जो पर्यावरण चिंतन पर आधारित होते हैं लेकिन पर्यावरण संतुलन, पर्यावरण संरक्षण जैसी सीख किन्हें देनी

चाहिए? उन्हें जो पर्यावरण के साथ तालमेल बनाकर सदियों से वनों और सुदूर ग्रामीण अंचलों में बसे हैं या उन्हें जो पर्यावरण की धत्त करके खुद को ज्यादा विकसित और सभ्य साबित करने में लगे हैं? पर्यावरण और प्रकृति के सजग रक्षक सही मायने में आदिवासी ही हैं।

आवश्यकता यह भी है कि प्रकृति से जुड़े आदिवासियों के ज्ञान का संकलन समय रहते किया जाए। आधुनिकता जैसे भ्रम ने या कहिए शहरीकरण ने हमारे समाज में जिस कदर पैर पसारने शुरू किए हैं, ना सिर्फ हिन्दुस्तान बल्कि सारी दुनिया के आदिवासी एक अनकहे और अनजाने से खतरे के चौराहे पर हैं, जहां इनके विलुप्त तक हो जाने की गुंजाइश है। आदिवासियों का वनों और प्रकृति से दूर जाने या खो जाने से आदिकाल से सुरक्षित ज्ञान का भंडारण खत्म ही हो जाएगा। सारी दुनिया के पर्यावरण ाविद पर्यावरण संरक्षण को लेकर चिंता करते हैं, शहरों में रैलियां निकाली जाएंगी और ग्लोबल वार्मिंग जैसे मुद्दों पर बहस आदि का आयोजन भी होगा। मगर शायद ही कहीं पर्यावरण के सच्चे रक्षकों यानी आदिवासियों के लिए कोई वाकई फिक्रमंदी से बात करेगा।

हजारों साल से आदिवासियों ने वनों के करीब रहते हुए जीवन जीने की सरलता के लिए आसान तरीकों, नव प्रवर्तनों और कलाओं को अपनाया है। आदिवासियों ने मरुस्थल में खेती करने के तरीके खोज निकाले, तो कहीं जल निमग्न क्षेत्रों में भी अपने भोजन के लिए अन्न व्यवस्था कर ली। पर्यावरण को नुकसान पहुंचाए बगैर वनवासियों ने अपने जीवन को सरल किया है। इनका परंपरागत ज्ञान हजारों साल पुराना है, आज भी पर्यावरण और मौसम परिवर्तनों का अनुमान सिर्फ आसमान पर नजर मार कर लगाने वाले आदिवासी शहरी लोगों के लिए कौतुहल का विषय हो सकते हैं पर इनके ज्ञान की संभावनाएं सीमित नहीं है।

पेसिफिक आईलैण्ड के आदिवासियों के हुनर का जिक्र किया जाए तो शायद कुछ हद तक हम समझ पाएंगे पारंपरिक ज्ञान में कितना दम है और इसे खो देने मात्र से हमें कितना नुकसान होगा। आसमान में उड़ने वाली तितलियों को देखकर पेसिफिक

आईलैण्ड के आदिवासी अनुमान लगा सकते हैं उस दिन शाम तक मौसम कैसा रहेगा? बरसात होगी या धूप खिली रहेगी? या तेजी आंधी चलेगी।

मौसम के पूर्वानुमान के लिए की गई इनकी भविष्यवाणियां सौ फीसदी सही साबित होती हैं लेकिन दुर्भाग्य से इस तरह का ज्ञान विलुप्त होने की कगार पर है क्योंकि यहां पर बाहरी लोगों के कदम पड़ने शुरू हो चुके हैं, यहां शहरीकरण का आगमन हो चुका है। आदिवासियों के बच्चे बाहरी दुनिया से रूबरू हो रहे हैं और युवा अपना घर छोड़कर रोजगार की तलाश के नाम पर आईलैण्ड छोड़कर जा रहे हैं। हालांकि पिछले एक दशक में इस क्षेत्र से आदिवासियों के पलायन ने तेजी पकड़ रखी है लेकिन कुछ संस्थाओं और आदिवासी बुजुर्गों ने अब तक आस नहीं छोड़ी है।

सदियां इस बात की गवाह है कि जब–जब किसी बाहरी सोच या रहन–सहन ने किसी वनवासी क्षेत्र या समुदाय के लोगों के बीच प्रवेश किया है, आदिवासियों की संस्कृति पर इसका सीधा असर हुआ है। वास्तव में जब–जब विकास नाम का राक्षस सुदूर इलाकों में प्रवेश करता है, वहां की स्थानीय परंपराओं का विघटन भी शुरू हो जाता है। विकास के नाम पर वनवासियों की जमीनें छीनी गई, बांध बनाने के नाम पर इन्हें विस्थापित किया गया और दुर्भाग्य की बात है कि ये सारे विकास के प्रयास आदिवासी विकास के नाम पर किए जाते रहे हैं पर वास्तव में ये सब कुछ हम बाहरी दुनिया के लोगों के हित के लिए होता है ना कि आदिवासियों के लिए।

शहरी लोग पेड़–पौधे रोपित करके पर्यावरण दिवस जरूर मना लेते हैं लेकिन अच्छा तो ये होगा कि जितने वृक्ष बचे हैं उन्हें बचाने की पहल पहले होनी चाहिए क्योंकि वृक्ष इतने सक्षम हैं कि वो अपनी संतति तैयार कर सकते हैं, बशर्ते हम इंसान अपनी सोच का दायरा बढ़ाएं, अपनी जरूरतों को संतुलित करें। गाँवों को शहर बनाने की प्रक्रिया पर बार–बार चिंतन करें और गाँवों के शहर बनने से होने वाले दूरगामी परिणामों को समझने की कोशिश करें।

पर्यावरण की रक्षा के नाम पर आज तरह–तरह के संगठन

सक्रिय हैं। इनमें ऐसे लोग भी हैं जिनके पर्यावरण एवं विज्ञान दोनों को लेकर सरोकार हैं। ये लोग पर्यावरण के प्रति विज्ञान सम्मत समझ बनाने पर जोर देते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो अपनी इच्छा और आकर्षण के आधार पर कार्यरत हैं। इनमें से ज्यादातर मिथों के आधार पर काम करते हैं और मिथों की सृष्टि करते हैं। पूंजीवादी विकास क्रान्ति के गर्भ से विकास की जो प्रक्रिया शुरु हुई थी, वह आज अपनी कीमत मांग रही है। विकास के नाम पर प्रकृति का अंधाधुंध दोहन प्राकृतिक विनाश की हद तक ले गया।

मनुष्य और प्रकृति का अविभाज्य संबंध है। प्रकृति का समाज और समाज का प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है। कोई भी राष्ट्र प्रकृति का विनाश करके विकास नहीं कर सकता। इसी तरह कोई भी राष्ट्र औद्योगिक विकास के बिना विकास नहीं कर सकता। इसीलिए प्रकृति और विकास के बीच में संतुलन जरुरी है। आज पृथ्वी के किसी भी हिस्से में प्राकृतिक संतुलन बिगड़ता है तो उसका समूची दुनिया पर दुष्प्रभाव पड़ता है। अतः प्रकृति के विनाश को रोकना हमारी सबसे बड़ी जिम्मेदारी है।

पर्यावरण और प्रकृति संबंधी विवादों की यह विशेषता है कि इसके उपभोग और संरक्षण के प्रश्न जितने महत्वपूर्ण बनते जाते हैं, उनको लेकर उतने ही झूठे तर्कों का शब्दजाल फैलाया जा रहा है। प्रकृति के संरक्षण, सामाजिक पूर्वानुमान और इन क्षेत्रों में विकास के नाम पर नियंत्रण रखने वाली बहुराष्ट्रीय कंपनियां और कॉरपोरेट कल्चर वाले पूंजीपति तरह–तरह के दांव–पेंच खेलते रहे हैं।

प्रकृति को निर्ममता से लूटने की प्रवृत्ति मानवजाति के भूतकाल की उपज और उस जमाने का अनिवार्य परिणाम है, जब उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर बहुत नीचा था और प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष मनुष्य के उत्पादन का अभिन्न अंग था। किन्तु आज मनुष्य प्रकृति का गुलाम नहीं है बल्कि स्वामी है। स्वामी होने के बाबजूद मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति बदली नहीं है। वह आज भी प्रकृति को शत्रु समझकर कार्य कर रहा है।

समय की मांग है कि प्रकृति संसाधनों के प्रति ऐसा दृष्टिकोण

अपनाया जाए, जो मानव जाति की एकता, समाज और प्रकृति में समन्वय के सिद्धांत पर आधारित हो। मानव जाति की संपत्ति होने के कारण पृथ्वी पर किसी का भी अधिकार नहीं होना चाहिए। पृथ्वी को हमें एकदम नए दृष्टिकोण से देखना होगा। पृथ्वी अपनी संपत्ति नहीं है अपितु मानव जाति की संपत्ति है। इसी तरह प्रकृति भी किसी की संपत्ति नहीं है, वरन् समूची मानव जाति की संपत्ति है। आखिर हम कब तक प्रकृति को अपनी संपत्ति मानते रहेंगे, प्रकृति को लूटते रहेंगे, उसका ध्वंस करते रहेंगे?

आदिवासी समुदाय व प्रक्रिया महज अपनी धार्मिक गतिविधियों के लिए ही नहीं करते, बल्कि उनकी सामाजिक, आर्थिक जरूरतों के लिए भी इनकी उपयोगिता है। वन आधारित जीवनशैली, आदिवासियों का परंपरागत ज्ञान, जरूरत भर उपयोग, संरक्षण के लिए आदिवासियों की सोच और कार्यशैली की अनदेखी कर, उस पर विदेशी सोच आधुनिक कहकर लादी जा रही है। इससे वन्यप्राण ी, जैव विविधता का संरक्षण तो नहीं हो रहा, उल्टे आदिवासी और जंगल का सहअस्तित्व जरूर खत्म हो रहा है। इससे तनाव बढ़ रहा है।

जंगल से अधिक–से–अधिक लाभ कमाने के लिए आधुनिक सोच के तहत वन संरक्षण के लिए वन सुरक्षा समितियां, ग्राम वन समितियां, ईको विकास समितियां बनाकर जन भागीदारी से संरक्षण का सिर्फ ढोल पीटा जा रहा है। संयुक्त वन प्रबंधन, लोक वानिकी जैसे आधारहीन जन विरोधी कार्यक्रम वास्तव में ढकोसले हैं। अब तो ऐसी सोच विकसित की जा रही है कि जंगल बचाना महज लाभ के लिए हमें याद रखना होगा। देखा जाए तो हजारों साल से आज तक जंगल की जो रक्षा आदिवासियों की संस्कृति व परंपरा के चलते हो पाई है, उसका बड़ा हिस्सा हम महज कुछ दशकों में साफ कर चुके हैं। अगर वास्तव में आने वाली पीढ़ी के लिए हमें जंगल की विरासत रखनी है, तो जंगल को लाभ के लिए नहीं, बल्कि जीवन के लिए बचाने का सोच विकसित करना होगा। ●

10

आदिवासी और राजनीति

भारतीय जनतंत्र दुनिया के सफलतम लोकतंत्रों में गिना जाता है। आदिवासी ही नहीं, बल्कि सभी वर्गों के जागरूक लोगों और राष्ट्रीय राजनीतिक दलों से अपेक्षा की जाती है कि राष्ट्रीय स्तर पर आदिवासी लोकतांत्रिक नेतृत्व को विकसित किया जाए। स्वस्थ और समृद्ध लोकतंत्र समाज के सभी घटकों के प्रतिनिधित्व की अपेक्षा करता है।

आजादी के 70 साल बाद भी भारत के आदिवासी उपेक्षित, शोषित और पीड़ित नजर आते हैं। राजनीतिक पार्टियाँ और नेता आदिवासियों के उत्थान की बात करते हैं, लेकिन उस पर अमल नहीं करते। किसी भी राजनीतिक दल ने न तो अपने घोषणा–पत्र में आदिवासियों से जुड़े मुद्दे उठाए और न ही चुनाव अभियान में उनके हित की बात उठा रहे हैं।

आदिवासियों पर होने वाले अत्याचारों पर बहुसंख्यक समाज उन्हें अपराधी या माओवादी मानकर चुप्पी साधे रखता है। वर्चस्वशाली

जातियों वाला मीडिया आदिवासियों और माओवादियों को एक दूसरे में घालमेल कर देता है। मीडिया में काम करने वाले ज्यादतर समाज के अगड़े तबके के लोग हैं जिनका इससे वास्ता नहीं होता। व्यवस्था के पूंजीवादी ढांचे ने लोगों की संजीदगी या संवेदनाओं का एक खांचा तय कर दिया है। इस खांचे में वो संवेदनाएं ही फिट होती हैं जो पूंजीवादी या वर्चस्वशाली तबके के हितों को सुहाती हैं। आदिवासियों से जुड़ी बहुसंख्यक समाज की संवेदनाएं या तो दिखावा है या उन्हें उजाड़ने के लिए भावुक हथियार।

आदिवासी किसी राज्य या क्षेत्र विशेष में नहीं हैं, बल्कि पूरे देश में फैले हैं। ये कहीं नक्सलवाद से जूझ रहे हैं तो कहीं अलगाववाद की आग में जल रहे हैं। जल, जंगल और जमीन को लेकर इनका शोषण निरंतर चला आ रहा है। ऐसे में राष्ट्रीय मुद्दे– आतंकवाद, स्विस बैंक से काला धन वापस लाने, महँगाई, स्थिर और मजबूत सरकार के नाम पर जनता से वोट बटोरने की नीति को महज राजनीतिक स्टंट ही कहा जाएगा। देश के लगभग करोड़ों आदिवासियों आदिवासियों की अनदेखी कर तात्कालिक राजनीतिक लाभ देने वाली बातों को हवा देना एक परंपरा बन गई है।

यह तो नींव के बिना महल बनाने वाली बात हो गई। राजनीतिक पार्टियाँ अगर सचमुच में देश का विकास चाहती हैं और आखिरी व्यक्ति तक लाभ पहुँचाने की मंशा रखती हैं तो आदिवासी हित और उनकी समस्याओं को हल करने की बात पहले करना होगी। भारत में मिजोरम, नगालैंड व मेघालय जैसे छोटे राज्यों में 80 से 93 प्रतिशत तक आबादी आदिवासियों की है। बड़े राज्यों में मध्यप्रदेश, उड़ीसा, महाराष्ट्र, बिहार, गुजरात, राजस्थान और छत्तीसगढ़ में 8 से 23 प्रतिशत तक आबादी आदिवासियों की है।

देश में अभी भी आदिवासी दोयम दर्जे के नागरिक जैसा जीवन–यापन कर रहे हैं। नक्सलवाद हो या अलगाववाद, पहले शिकार आदिवासी ही होते हैं। उड़ीसा के कंधमाल में धर्मांधता के शिकार आदिवासी हुए। छत्तीसगढ़, उड़ीसा और झारखंड में आदिवासी नक्सलवाद की त्रासदी झेल रहे हैं। मेघालय, नगालैंड,

अरुणाचल प्रदेश और कुछ आदिवासी बहुल प्रांतों में यह समुदाय अलगाववाद का शिकार समय–समय पर होता रहता है। नक्सलवाद की समस्या आतंकवाद से कहीं बड़ी है।

आतंकवाद आयातित है, जबकि नक्सलवाद देश की आंतरिक समस्या है। यह समस्या देश को अंदर ही अंदर घुन की तरह खोखला करती जा रही है। इनके संबंध श्रीलंका के लिट्टे सहित कई प्रतिबंधित संगठनों से होने के संकेत मिल चुके हैं। नक्सली अत्याधुनिक विदेशी हथियारों और विस्फोटकों से लैस होते जा रहे हैं। नक्सली प्रजातंत्र को मजबूती के साथ आँख भी दिखा रहे हैं।

नक्सली वारदातों के चलते छत्तीसगढ़ में बस्तर इलाका एक एक टापू बन गया है। वहाँ के आदिवासी न चाहते हुए भी नक्सलियों को सहयोग करने को विवश हैं। बस्तर का कुछ इलाका ऐसा है, जहाँ फोर्स भी नहीं घुस सकती। पिछले साल हैदराबाद से रायपुर आ रहे एक हेलिकॉप्टर के दुर्घटनाग्रस्त होने पर उसकी तलाश महीनों तक नहीं की जा सकी। बाद में ग्रामीणों के सहयोग से पायलट और इंजीनियरों का कंकाल मिला।

राजनीतिक पार्टियों को बाहरी ताकतों से लड़ने की बातें छोड़कर पहले देश की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास और रणनीति बनाना चाहिए। उनके वादे देश को आंतरिक रूप से मजबूत करने के होने चाहिए। अन्यथा चीन और पाकिस्तान जैसे पड़ोसी देशों को देश को अस्थिर करने का मौका मिलता रहेगा। केंद्र सरकार आदिवासियों के नाम पर हर साल हजारों करोड़ रुपए का प्रावधान बजट में करती है। इसके बाद भी 6 दशक में उनकी आर्थिक स्थिति, जीवन स्तर में कोई बदलाव नहीं आया है। स्वास्थ्य सुविधाएँ, पीने का साफ पानी आदि मूलभूत सुविधाओं के लिए वे आज भी तरस रहे हैं।

भारत को हम भले ही समृद्ध विकासशील देश की श्रेणी में शामिल कर लें, लेकिन आदिवासी अब भी समाज की मुख्य धारा से कटे नजर आते हैं। इसका फायदा उठाकर नक्सली उन्हें अपने से जोड़ लेते हैं। कुछ राज्य सरकारें आदिवासियों को लाभ पहुँचाने के लिए उनकी संस्कृति और जीवन शैली को समझे बिना ही योजना

बना लेती हैं। ऐसी योजनाओं का आदिवासियों को लाभ नहीं होता, अलबत्ता योजना बनाने वाले जरूर फायदे में रहते हैं। महँगाई के चलते आज आदिवासी दैनिक उपयोग की वस्तुएँ भी नहीं खरीद पा रहे हैं। वे कुपोषण के शिकार हो रहे हैं। अतः देश की करीब आठ फीसद आबादी (आदिवासियों की) पर विशेष ध्यान देना होगा।

गरीबी उन्मूलन की बात वर्षों से की जा रही है। इसके बावजूद समाज में आर्थिक विषमता ज्यों–की–त्यों बनी हुई है। बेरोजगारी की समस्या यथावत है। हर नागरिक इससे त्रस्त है। आदिवासी भी इस महँगाई से अछूते नहीं हैं। देश की आंतरिक समस्या से राजनीतिक पार्टियों को सीधा वास्ता रखना होगा। आदिवासियों, आम नागरिकों से जुड़े मुद्दे राजनीतिक पार्टियों को घोषणा–पत्र और भाषणों में शामिल करना होगा। तभी जनता की आस्था लोकतंत्र पर बढ़ेगी और घरेलू समस्याओं का खात्मा किया जा सकेगा।

आदिवासी समाज के प्रति भारत के शासकों की नीति और लक्ष्य क्या है? भारत में आदिवासियों की विशाल आबादी निवास करती है। आठ करोड़ से भी अधिक संख्या वाले आदिवासी आबादी का पूरा भारत ही घर है। नागालैण्ड से लेकर गुजरात और कश्मीर से लेकर अण्डमान तक फैली यह आबादी भारतीय समाज की तरह विविधता से भरी हुयी है। भाषा, रहन–सहन, जीवन यापन, सामाजिक जीवन, नस्ल आदि सभी में इतनी अधिक भिन्नता है कि इन्हें एक एकीकृत समुदाय या इकाई के रूप में नहीं देखा जा सकता है। परतु इसके बावजूद भारतीय समाज की मूलधारा से उनके पार्थक्य और उनके घोर उपेक्षा व उत्पीड़न ने उन्हें एक विशिष्ट पहचान प्रदान की है। उनका रहन–सहन, जीवन, भाषा, विश्वास भारत में बहु प्रचलित पद्वति, संरचना, धार्मिक विश्वासों से काफी कुछ अलग रहा है, और उसे शासक वर्ग हेय दृष्टि से देखता रहा है।

छत्तीसगढ़, झारखण्ड, उड़ीसा जैसे राज्यों में जहां कोयला, लोहा, जैसे अमूल्य खनिज भण्डारों के साथ भरपूर प्राकृतिक संसाधन मौजूद हैं वहां भारत के शासक वर्गों ने एक तरह से

गृह युद्ध छेड़ा हुआ है। इस युद्ध के निशाने पर मूलतः आदिवासी समुदाय के लोग ही हैं। बीजापुर की हाल की घटना दिखलाती है कि भारत का शासक वर्ग किस तरह से आदिवासी समुदाय के गरीब मेहनतकशों की क्रूरतापूर्वक हत्यायें कर रहा है और यह कोई पहली घटना नहीं है बल्कि दशकों से ऐसे हत्याकाण्ड इन राज्यों में ही नहीं बल्कि उत्तरपूर्व के आदिवासी बहुल राज्यों में कई बार अंजाम दिये जा चुके हैं। उत्तरपूर्व के राज्यों में दशकों से भयानक काला कानून 'आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पाउर एक्ट' के तहत प्राप्त अधिकारों का प्रयोग करके सेना और अर्द्ध सैनिक बल हत्या, लूट, बलात्कार की असंख्य घटनाओं को अंजाम दे चुके हैं। आदिवासी समुदाय के अधिकांश सदस्यों का क्रूर दमन व भयानक शोषण के साथ शासक वर्ग ने उन्हें अपनी पांतों में शामिल करने और उनके बीच अपने आधार को व्यापक बनाने के लिए शिक्षा, नौकरियों, संसद–विधान सभा में आरक्षण देने की नीति के साथ कई और सुधारवादी कदम उठाये। पिछले पांच–छः दशकों में शनैः शनैः यह समुदाय आधुनिक भारतीय समाज की वर्गीय संरचना का हिस्सा बन चुका है। एक अल्प आबादी जहां शासक व निम्न पूंजीपति वर्ग की पांतों में शामिल हुई है वहां विशाल आबादी भारतीय सर्वहारा वर्ग की पांतों में धकेली जा चुकी है।

भारत के विशाल आदिवासी समुदाय में अलग–अलग समूह विकास की अलग–अलग अवस्थाओं में खड़े रहे हैं। कई समूह जैसे नगा, मिजो, बोडो, संथाली आदि उस स्थान पर पहुंचते गये हैं जहां उन्हें कमोबेश एक राष्ट्रीयता का दर्जा दिया जा सकता है और उनका भावी विकास उन्हें भारत की उन्नत और विकसित राष्ट्रीयताओं यथा तमिल, बंगाली, पंजाबी की निचली पांतों में शामिल कर सकता है। इस तरह की विकासमान राष्ट्रीयताओं के साथ उत्तरपूर्व के अरुणाचल राज्य से लेकर मध्य प्रदेश तक जैसे राज्यों में सैकड़ों जनजातियां निवास करती हैं। भारत की ये जनजातियां भी विकास के विभिन्न सोपान क्रम में हैं। कई अभी भी कबीलाई समाज की तरह ही जीवन बसर कर रही हैं। पूंजीवादी समाज इन सभी जनजातियों को बेहद क्रूर ढंग से, उनकी जमीन

व संस्कृति से काटकर पूरी की पूरी आबादी को परम्परागत स्थानों से उजाड़ कर अपने आगोश में ले रहा है। पूंजीवादी विकास का ही वह क्रूर वीभत्स चेहरा है जो भारत में छत्तीसगढ़, झारखण्ड, उड़ीसा में पिछले कई वर्षों से दिख रहा है।

आदिवासियों का जीवन जल, जंगल और जमीन के इर्द गिर्द ही घूमता है। मौजूदा हालात को छोड़ दें और अभी से 6 दशक पहले की बात करें तो आदिवासी जहां होते थे उस जमीन का मालिकाना हक उन्हीं का होता था। हालांकि कानूनी तौर पर भले ही उनके पास दस्तावेज नहीं होते थे। सदियों से ये आदिवासी इस जमीन पर रहते आए थे, लेकिन 60 और 70 के दशक में उस पर बाहरी दखल बढ़ने लगा। उनकी जमीन कभी कानूनी तो कभी गैर कानूनी तरीके से गैरआदिवासियों के कब्जे में आने लगीं। नतीजा ये हुआ कि ज्यादातर आदिवासी अपनी जमीनें खोकर मजदूर बन गए। आदिवासी जो अब तक प्राकृतिक संसाधनों जैसे पेड़, पानी जमीन पर अपना अधिकार समझते थे उस पर सरकार का कब्जा होने लगा।

फॉरेस्ट रिजर्व के लिए बनाई जा रही नीतियों ने आदिवासियों को उनके ही इलाकों में रहने खाने और उनके रहन–सहन के तौर तरीकों पर कई पाबंदियां लगा दीं। आदिवासियों के लिए मुश्किलें तब सबसे ज्यादा बढ़ीं जब देश में रेलवे का विस्तार किया गया। सरकार ने टीक, साल और देवदार के पेड़ों वाले जंगलों का आरक्षण करना शुरु कर दिया ताकि इनका इस्तेमाल रेलवे के लिए स्लीपर बनाने में किया जा सके। आदिवासियों ने धीरे –धीरे विरोध करना शुरु कर दिया, जिसके बाद फॉरेस्ट और वाइल्ड लाइफ की सुरक्षा के लिए कानून बनाए गए तो आदिवासियों के लिए भी कानून बने। उनमें से कुछ अहम कानून हैं–भारतीय वन्य कानून 1927, वन्ध्य जीवन संरक्षण कानून 1972 और अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन्य निवासी कानून 2006।

इन कानूनों के आने के बाद आदिवासियों को खासा झटका लगा। भारतीय वन्य कानून 1927, के मुताबिक सरकार जंगल के किसी भी हिस्से को रिजर्व घोषित कर सकती है तो वहीं वन्य

जीवन संरक्षण कानून 1972 के मुताबिक सरकार किसी भी क्षेत्र को सुरक्षित क्षेत्र बनाने का ऐलान कर सकती है। इसके बाद इन इलाकों में रह रहे आदिवासी शिकायत करते हैं तो इसकी सुनवाई का अधिकार फॉरेस्ट सेटलमेंट अधिकारी के पास है, लेकिन कई इलाकों में ये व्यवस्था लागू ही नहीं हो पाई है।

आदिवासियों के लगातार विरोध के बाद अनुसूचित जनजाति और अन्य पारंपरिक वन्य निवासी कानून 2006 बनाया गया, लेकिन इससे आदिवासियों के हित पूरे नहीं हो पाए। इस कानून के मुताबिक सरकार अगर आदिवासियों को उनके इलाके से हटाती है तो इस हालत में सरकार को ना सिर्फ उनके पुनर्वास बल्कि आजीविका के साधन भी उपलब्ध कराना होगा, लेकिन हकीकत में ऐसा नहीं हो पा रहा है। दूसरी तरफ आदिवासियों की जमीन पर अधिग्रहण लगातार जारी है। कई जगहों पर हालत ये है कि जंगलों में अपना डेरा जमाने वाले आदिवासी इसके लिए सरकार को टैक्स भी देते हैं।

आदिवासियों और सरकार के बीच गतिरोध कई दशक पुराना है। आजादी के बाद भूमि सुधार से जुड़े लगभग 270 कानून प्रभाव में आए, लेकिन आज तक ये समस्या खत्म नहीं हो पाई है। देश के अलग–अलग राज्यों में आदिवासी अभी भी अपने हक की लड़ाई लड़ रहे हैं। बीते कुछ साल में इस लड़ाई ने जोर पकड़ा है और अब ये लड़ाई सड़कों पर आ चुकी है।

हाल ही में झारखंड में रांची से करीब 15 किलोमीटर दूर 227 एकड़ जमीन का अधिग्रहण किया गया ताकि यहां आईआईएम, ट्रिपल आईटी और लॉ कॉलेज बनाया जा सके। इससे तकरीबन 153 परिवार प्रभावित हो रहे हैं जिनमें से ज्यादातर आदिवासी हैं और ये इस जमीन पर धान की खेती कर अपना गुजारा करते हैं। सरकार के इस फैसले का यहां रहने वाले आदिवासी विरोध कर रहे हैं, इन्हें आस पास के तकरीबन 35 गांवों का समर्थन हासिल है।

मध्य प्रदेश के डिंडोरी में 200 करोड़ की लागत से डैम का निर्माण किया जा रहा है। इसके लिए तकरीबन 643 हेक्टेयर

जमीन का अधिग्रहण किया गया है, इसमें से ज्यादातर जमीन आदिवासियों की है। ये आदिवासी अपनी जमीन छोड़ने को तैयार नहीं है। अगर छोड़ भी दें तो इनके पुनर्वास की अभी तक कोई व्यवस्था नहीं की गई है। लिहाजा इन्होंने अदालत की शरण ली है।

आदिवासी और उनकी इस लड़ाई की शुरुआत ब्रिटिश राज में ही हो गई थी। आदिवासी द्वारा इस्तेमाल किए जा रहे प्राकृतिक संसाधन पर ब्रिटिश कब्जा चाहते थे और इसीलिए उसी वक्त आदिवासियों के कबीलों में दखल शुरु हो गया था और तब से ही ये लड़ाई चल रही है। अब हालात बदल चुके हैं। भारत आजाद हो चुका है, कई कानून बना दिए गए हैं। लेकिन लड़ाई जारी है और अपने ही जल जंगल और जमीन के लिए अपने ही लोग अलग–अलग सरकारों के साथ दिन रात एक संघर्ष कर रहे हैं। ●

● हर व्यक्ति को जो चीज हृदयंगम हो गई है, वह उसके लिए धर्म है। धर्म बुद्धिगम्य वस्तु नहीं, हृदयगम्य वस्तु है। इसलिए धर्म मूर्ख लोगों के लिए भी है। –महात्मा गांधी

● सत्य हजार ढंग से कहा जा सकता है और फिर भी हर ढंग सत्य हो सकता है। –स्वामी विवेकानंद

● अधिक कहने से रस नहीं रह जाता, जैसे गूलर के फल को फोड़ने पर रस नहीं निकलता। –तुलसीदास

● जैसे ही कहीं पर भगवान का मंदिर बनकर तैयार होता है, शैतान उसके पास ही अपना प्रार्थना गृह बना लेता है। –जॉर्ज हरबर्ट

● दो बैर करने वालों के बीच में बात ऐसे कहें कि यदि वे मित्र बन जाएं तो आपको लज्जित न होना पड़े। –शेख सादी

11

गुजरात का आदिवासी समाज

सम्पूर्ण मानव समाज के विकास की बात करते हैं तो पाते हैं कि दुनिया का आधा हिस्सा अब भी विकास के लाभ से वंचित है और उनकी गणना हासिये के समूह, पिछड़े वर्ग, वंचित वर्ग, बहिष्कृत समूह, अनुसूचित जाति तथा जनजाति और महिलाओं के रूप में की जाती है।

प्रख्यात समाजशास्त्री एवं विचारक मार्क्स का कहना है की

''स्त्री का कोई वर्ग नही होता है, विश्व की आधी आबादी वर्गविहीन हैं, स्त्री के वर्ग का निर्धारण पुरुष के वर्ग से होता हैं।" नारीवादी विचारक सिमोन द बुआ ने भी अपनी पुस्तक 'दी सेकेण्ड सेक्स' में बताया है की 'नारी जन्मती नही, बनाई जाती हैं।' नारी की प्रकृति के रूप में और पुरुष को संस्कृति के रूप में चित्रित किया जाता रहा है। नारी की इस गिरी हुई हीन स्थिति के लिए पितृसतात्मकता की प्रथा उत्तरदायी है।

वर्तमान समय में आदिवासी स्त्रियों की सामाजिक एवं शैक्षणिक परिस्थितियों एवं आये हुए बदलावों को खोजने का प्रयास नॉलेज कांस्टियूरम ऑफ गुजरात ने किया है कि उनके सामाजिक जीवन तथा शिक्षा के स्तर पर कितना बदलाव आ रहा है। आज जिस प्रकार आदिवासी समाज में शिक्षा का आगाज हुआ है आदिवासी महिलाओ में शिक्षा का स्तर कम मात्रा में पाया जाता है, उनकी आर्थिक स्थिति इतनी उच्च नही है कि वे स्कूल या कॉलेज में शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेज सकें। कुछ मात्रा में आदिवासी लड़कियां प्राथमिक शिक्षा तो प्राप्त कर पाती है लेकिन आगे की पढाई नहीं कर पाती हैं या तो उनका कम उम्र में विवाह हो जाता है या तो सामाजिक बंधनों के कारण तथा साधनों के अभाव में शिक्षा बीच में ही छोड़नी पड़ती है जबकि सरकार आदिवासियों के विकास के लिए काफी नीतियां और कल्याणकारी योजनायें चला रही है, जिससे उनका समुचित और सर्वांगीण विकास हो सके तथा वे बहिष्कृत समूह से समाज की मुख्यधारा में सम्मिलित हो सकें।

सामान्य रूप में महिलाओं तथा विशेष रूप से आदिवासी औरतों को तीन तरह से मुसीबत का सामना करना पड़ता है। एक महिला, दूसरा आदिवासी, तीसरा ग्रामीण जीवन। हम औरतों के सशक्तिकरण की बात करते हैं जबकि नारी जाति को शक्ति का रूप माना जाता हैं तो ऐसा कहा जा सकता हैं कि यह तो शक्ति के सशक्तिकरण की बात है जिसमे नारी के पास इतनी शक्ति नहीं है कि वो एकता तथा सम्मान के साथ समाज में जीवन व्यतीत कर सकें। जिस तरह से भारत में सामान्य रूप से आदिवासियों का विकास तथा विशेष रूप से आदिवासी महिलाओं का विकास

हो रहा है उससे यह परिलक्षित होता है की वे अपने विकास के प्रति जागरूक हो रहे हैं क्योंकि भारत की प्राप्त जनगणना से यह पता चल रहा है कि 2001 से 2011 के 10 साल के अन्तराल में आदिवासी महिलायें शिक्षा के प्रति ज्यादा जागरूक हुई हैं तथा उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में भी सुधार हुआ है।

आदिवासी समाजों में हम महिलाओ की परस्थिति इस तथ्य से समझ सकते है की उन्हें सामाजिक सहभागिता के अवसर किस सीमा तक प्राप्त होते है, वैवाहिक निर्णय में उन्हें कितनी स्वतंत्रता प्राप्त है तथा आर्थिक क्रियाओं एवं शैक्षणिक जीवन में उनका कितना योगदान है। जब हम आदिवासी जीवन की बात करते हैं तो ऐसा पाते हैं कि आदिवासी सामाजिक स्तरीकरण में लिंग भेद का न तो कोई सार्वभौमिक नियम है और न ही सभी महत्वपूर्ण परस्थितियां लिंग भेद पर आधारित होती है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी स्त्री शिक्षा पर जोर देते हुए कहते हैं कि "महिलाओ का सशक्तिकरण तभी हो सकता है जब उनकों कार्य और अधिकारों का ज्ञान होगा और उसको प्राप्त करने कि शक्ति होगी। इसके लिए शिक्षा ही सबसे बड़ा हथियार है।" वर्तमान में सरकार पिछड़े लोगों तथा महिलाओं में शिक्षा का स्तर उच्च करने और समानता लाने के लिए अथक प्रयास कर रही है। जगह–जगह स्कूल और कॉलेज की व्यवस्था करवा रही हैं ताकि सब शिक्षित हों और प्रगति के पथ पर अग्रसर हों क्योंकि शिक्षा ही वह हथियार है जिसके जरिये मनुष्य जाति का समुचित विकास हों सकता है, लेकिन क्या वास्तविकता में लोग शिक्षित हों रहे है? जिनको शिक्षा की ज्यादा जरूरत है वे आज भी इसके महत्व से अनभिज्ञ है।

आदिवासियो का रहन–सहन, रीति–रिवाज अपनी एक अलग विशेषता लिए हुए होते हैं, उनकी अपनी एक अलग संस्कृति होती हैं जो उन्हें दूसरे समाज या लोगों से अलग करता है। उनमे धार्मिक रीति–रिवाज के कारण एकता की भावना तथा सामूहिक प्रतिनिधित्व पाया जाता है। उनकी पारिवारिक व्यवस्था, सामुदायिक जीवन, व्यवसाय तथा उनके समाज में नारी की स्थिति और धार्मिक

संगठन की भिन्न–भिन्न संरचना होती हैं।

गुजरात भारत का अत्यन्त महत्वपूर्ण राज्य हैं जो कि भारत के पश्चिम भाग में स्थित है। गुजरात में अन्य जातियों के अलावा 2001 की जनगणना के अनुसार 25 आदिवासी जातियां पायी जाती हैं जिनमे वाल्मीकि, कोली, डगला, नायाका व मच्छि–खारवा जनजातियां आदि हैं। अगर गुजरात की कुल जनसंख्या की दृष्टि से देखे तो 14.79 प्रतिशत आदिवासी लोग पाए जाते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में गुजरात राज्य के अमीरगढ़ क्षेत्र में आदिवासी महिलाओं की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

अमीरगढ़ तालुका शैक्षणिक स्थिति में कुल साक्षरता दर 35.63ः है जिसमे स्त्री साक्षरता दर 21.09ः और पुरुष साक्षरता दर 49. 26ः और आदिवासी महिला साक्षरता दर 18ः है स इस रेश्यो को देखकर यह समझा जा सकता है की इस तालुका में आदिवासी महिलाओ की शैक्षणिक स्थिति कितनी पिछड़ी है।

आदिवासी महिलाओं से रूबरू होने पर यह बात सामने आई कि उनको शिक्षा की उपयोगिता के बारे में ज्यादा पता नही है। उनका ऐसा मानना है की उनकी जीवनचर्या तो सही से चल रहा है तो वो अपने परिवार को शिक्षित करके क्या करेंगे और जहां तक बात महिलाओं की है उनको तो शिक्षा की जरुरत ही नहीं है, ऐसा उनका मानना है। विभिन्न जनजातियों में लोग अपने लड़कों को विद्यालयों में और बाद में महाविद्यालयों में भेज रहे हैं। लेकिन लड़कियों को भेजने के मामले में उतना उत्साह नहीं है।

जनजातीय महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए जो भी रूपरेखा बनाई जाए, उसमें इस बात को अवश्य ध्यान में रखा जाए कि इन महिलाओं को भी नवयुग का सामना करना है। यहां रूढ़ियों और पंरम्पराओं में अंतर करना होगा। पंरम्पराएं एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होनी चाहिएं किंतु रूढ़ियों के मामले में ऐसा नहीं होना चाहिए। अगर लडकियों को शिक्षा प्राप्ति के लिए भेज भी रहे हैं तो उन्हें बीच में ही पढ़ाई छोड़ने के लिए मजबूर भी कर कर रहे हैं जिसकी वजह से उनकी पढ़ाई पूरी नही हो पाती है। इसके पीछे छिपे वजह का पता लगाने पर कुछ कारण

ों का पता चला जैसे कि यहां स्त्री साक्षरता दर निम्न होने का कारण आदिवासी विस्तार, भौगोलिक परिस्थिति, गरीबी, अज्ञानता, जागरूकता की कमी आदि है।

आदिवासियों के आर्थिक जीवन का स्रोत जंगली लकड़ियां, फल–फूल, सब्जियां, पशु–पालन, गुंदर, दूध, दूसरों के खेतो में मजदूरी तथा कृषि है। इसके अलावा हस्त निर्मित वस्तुएं हैं जिसे वे बाजारों में बेच कर अपना जीवन निर्वाह करते है। यह अध्ययन मुख्य रूप से आदिवासी महिलाओं के आर्थिक निर्भरता का विश्लेषण करता है कि आर्थिक आधारों पर वह कितनी मात्रा में भेदभाव की शिकार होती है तथा पिछड़ी हुई अवस्था में है।

गुजरात सरकार कुछ चुने हुए क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षण कार्यक्रम और सर्व शिक्षा अभियान चला रही है। जिससे इस क्षेत्र के लोगों में भी जागरुकता बढ़ रही है और शैक्षणिक स्थिति में क्रमशः सुधार हो रहा है। जैसा कि शिक्षण और आर्थिक जीवन में सामानांतर सम्बन्ध होता है तो यह कहा जा सकता है कि जिनका शैक्षणिक जीवन उच्च होगा तो उनका आर्थिक जीवन समृद्ध होगा।

वर्तमान में आदिवासियों के सामने जीवन निर्वाह की समस्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही हैं, जिसकी वजह से शिक्षा की उपयोगिता के बारे में अभी तक उनमे पूर्णतया जागरूकता नहीं आ पाई और ना ही प्राथमिकता बन पाई है, विशेष रूप से स्त्री शिक्षा के बारे में। पुरुष द्वारा कर्ज लेने की प्रवृत्ति के कारण भी महिलाओं की स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। उन्हें भी परिवार के अन्य सदस्यों के साथ बंधुआ मजदूरी करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। शिक्षा में प्रगति हुई है तो यह कहा जा सकता है कि आदिवासियो में विशेषतया महिलाओं में शिक्षा की कितनी ज्यादा आवश्यकता है। यहां पर शिक्षा की कमी का कारण लोगों में जागरूकता का अभाव तथा शिक्षा के महत्व से अनभिज्ञता है। जहां तक आदिवासी स्त्रियों में शिक्षा प्राप्ति की बात है तो उनके समुदाय में उनको शिक्षा प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता है, जबकि आने वाले समय में अगर वे शिक्षित होती हैं तो उनके समाज में नया आयाम लाया जा सकता है।

जैसा कि स्वामी विवेकानंद का मानना है कि ''अगर स्त्री शिक्षित होती है तो पूरा समाज शिक्षित होगा।'' परन्तु आकंडों से यही प्रतीत होता है कि आदिवासी स्त्रियां शिक्षा के क्षेत्र में बहुत पिछड़ी हुई अवस्था में है और जैसा की शिक्षा तथा आर्थिक जीवन का सामान्तर सम्बन्ध होता है तो बिना उचित तथा वैल्युएबल शिक्षा के आर्थिक समृद्धता भी प्राप्त नहीं की जा सकती है।

वर्तमान समय में जिस तरह से उपभोक्तावाद, पूंजीवाद समाज में समानता, बाजारीकरण, वैश्विकरण सम्पूर्ण समाज में व्याप्त हो रहा है। प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री, समाजशास्त्री माइकल फोकाल्ट का मानना है कि ''ज्ञान ही शक्ति है, जिसके पास ज्ञान है उसके पास शासन करने की शक्ति है तो ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि आने वाले समय में जिसके पास ज्ञान होगा उसके पास समृद्ध ता होगी।'' आधुनिक समाज की इस अंधाधुंध दौड़ में खासतौर पर आदिवासी महिलाओं को शिक्षा तथा अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने की आवश्कता है जिससे वे समाज में समानता और सम्मान के साथ जीवन व्यतीत कर सके और आने वाले समाज का पुनर्निर्माण कर सकें। ●

● जिस क्रोध से अपने कुटुंबी, अपने इष्ट मित्र अथवा दूसरों का आचरण सुधरे, पूज्य बुद्धि उत्पन्न हो दया, उदारता और परोपकार में प्रवृत्ति हो, वह क्रोध बुरा नहीं है। –अज्ञात

● क्रोध मूर्खता से उत्पन्न होता है और उसका अंत पश्चाताप पर होता है। –पाइथोगोरस

● जो मनुष्य अपने क्रोध को अपने ही ऊपर झेल लेता है, वह दूसरों के क्रोध से बच जाता है। –सुकरात

● मनुष्य प्रायः अपने विवेक की पूर्ति क्रोध द्वारा ही पूर्ण कर लेता है। –एलजर

12

गुजरात का आदिवासी समाज और सुखी परिवार

छोटा उदयपुर एवं वडोदरा जिले के आदिवासी अंचल नसवाडी, रंगपुर, बोडेली, कवांट, बलद गांव आदि से मैं लम्बे समय से जुड़ा रहा हूं। इसी क्षेत्र का बलद गांव मेरा जन्म स्थान है और इस क्षेत्र से जैन धर्म में दीक्षित होने वाला मैं पहला व्यक्ति हूं। मेरी दीक्षा का श्रेय मेरे गुरु परम क्षत्रियोद्धारक आचार्य श्रीमद इन्द्रदिन्न सूरीजी को जाता हैं, यह क्षेत्र उनकी कर्मभूमि रहा है, उन्हीं की प्रेरणा रही कि मैंने भी इसी क्षेत्र को अपनी कर्मभूमि बनाया और आदिवासी समाज को एक उन्नत जीवन देने का प्रयत्न किया।

रंगपुर में हरिभाई का आश्रम इस क्षेत्र के विकास का एक सशक्त माध्यम रहा है। एक तरह से हरिभाई 'भैयाजी' के बहुमुखी व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से अनेक राष्ट्रीय हस्तियां एवं राजनीतिज्ञ व्यक्तित्वों का इस क्षेत्र में आना जाना रहा। गुजरात की राजनीतिक बुनावट तो इसी आश्रम से तय होती रही है। इस क्षेत्र की समस्याओं के समाधान का यह आश्रम बहुत बड़ा आधार रहा है। साथ ही साथ इस क्षेत्र को मेरे गुरु परमार क्षत्रियोद्धारक आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरिजी म.सा. ने अपनी कर्मभूमि बनाकर यहां की जनता का उत्थान और उन्नयन किया।

उन्होंने न केवल विकास की अनेक योजनाएं प्रारंभ की बल्कि इस क्षेत्र की जनता को आदर्श जीवनशैली भी प्रदत्त की। नशा एवं रूढ़ि उन्मूलन की दृष्टि से उनके व्यापक प्रयत्न रहे। खान–पान की शुद्धि एवं अहिंसक जीवनशैली को स्थापित करने में उन्होंने बहुत श्रम किया। आज जबकि देश के अनेक हिस्सों में आदिवासी जन–जीवन हिंसा, अलगाव और आतंक का प्रतीक बना हुआ है और यह क्षेत्र भी इन सब स्थितियों से उपरत नहीं है। लेकिन गुरुदेव के प्रयासों से इस क्षेत्र के जन–जीवन में अहिंसा का प्रभावी प्रस्तुतिकरण हुआ है। जिससे यह क्षेत्र हिंसा से बचा रहा है। भैयाजी के निधन के बाद विगत लम्बे समय से मैं गुरु इन्द्रदिन्न सूरिजी द्वारा प्रारंभ किये गए उपक्रमों को सुखी परिवार अभियान के माध्यम से आगे बढ़ाने का प्रयास कर रहा हूं। मैंने इस क्षेत्र के समग्र विकास को अपने जीवन का ध्येय बना रखा है। इसकी एक सार्थक निष्पत्ति है–आधुनिक सर्वसुविधायुक्त एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय का निर्माण, जिसका लोकार्पण समारोह सुखी परिवार अभियान के तत्वावधन में एवं जैन आचार्यों की पावन निश्रा में 6 फरवरी 2011 को कवांट, जिला–वडोदरा (गुजरात) में आयोजित हुआ। इसी अवसर पर विशाल आदिवासी जन–जागृति सम्मेलन, आदिवासी कन्या की जैन दीक्षा, मेरे 500 आयंबिल का पारणा, प्राथमिक विद्यालय का शिलान्यास आदि विविध आयोजन हुए। इसके अतिरिक्त कवांट तहसील के ग्रामों में निर्मल एवं पवित्र जल आपूर्ति, कवांट से जोड़ने वाला ब्रिज एवं एपीएमसी की बिल्डिंग का लोकार्पण समारोह भी आयोजित हुआ। आदिवासी उत्थान और उन्नयन की विशिष्ट योजनाओं में लोकनायक एवं लोकप्रिय तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी का सहयोग विशेष उल्लेखनीय है।

कवांट में श्री नरेन्द्र मोदी के करकमलों से गच्छाधिपति आचार्य श्रीमद् नित्यानंद सूरीश्वरजी म.सा., साहित्य मनीषी आचार्य श्रीमद् वीरेन्द्र सूरीजी म.सा., तपस्वी सम्राट आचार्य श्रीमद् वसंत सूरीजी म.सा. की पावन निश्रा में भव्य रूप में एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय का शिलान्यास समारोह 11 मार्च 2007 को संपन्न हुआ

था। जिसमें मेरे विशेष प्रयत्नों एवं इस क्षेत्र की जनता पर मेरे विशेष प्रभाव से करीब डेढ़ लाख आदिवासी लोगों ने भाग लिया था। इस अवसर पर श्री मोदी ने सुखी परिवार अभियान की बहुआयामी योजना में वनबंधु कल्याण योजना के अन्तर्गत गुजरात सरकार की ओर से हर संभव सहयोग देने की घोषणा की थी। इसी अवसर पर आपने कवांट से जोड़ने वाले ब्रिज, एग्रीकल्चर प्रोडक्ट मार्केटिंग कॉरपोरेशन की बिल्डिंग एवं कवांट तहसील के ग्रामों को नर्मदा का पवित्र एवं निर्मल जल उपलब्ध हो, इस हेतु घोषणाएं की थी। श्री मोदी द्वारा की गई घोषणाओं को तत्परता से क्रियान्वित कर इस क्षेत्र के लोगों के उत्साह में अभिवृद्धि की गई मैं कह सकता हूं कि इस आदिवासी अंचल को विकास की ओर अग्रसर होते हुए देखने के लिए मेरे जो सपने रहे हैं, उन सपनों को आकार देने एवं आदिवासी समाज के उत्थान में मोदीजी ने अपना हरसंभव सहयोग प्रदत्त किया और सुखी परिवार अभियान भी अपना हरसंभव सहयोग देता रहा है। यहां की जनता भी इसमें सहयोगी बनी है, हम सबकी मिलजुली शक्ति एवं सहयोग से तो तस्वीर बनी है, वह न केवल गुजरात के लिए बल्कि समूचे राष्ट्र के लिए एक आदर्श मॉडल के रूप में एक विशिष्ट उपलब्धि बनकर प्रस्तुत हो रही है।

आदिवासी जनजीवन के लिए सेवा, शिक्षा, जनकल्याण की विशिष्ट योजनाएं सुखी परिवार अभियान के द्वारा लम्बे समय से संचालित की जा रही है। मेरी दृष्टि में आदिवासी अंचल में एक रोशनी का अवतरण हुआ है, यह ऐसी रोशनी है जो हिंसा, आतंकवाद, नक्सलवाद, माओवाद जैसी समस्याओं का समाधान बन रही है। अक्सर हम राजनीति के माध्यम से इन समस्याओं का समाधान खोजते है, जबकि समाधान की अपेक्षा संकट गहराता हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि राजनीतिक स्वार्थों के कारण इन उपेक्षित एवं अभावग्रस्त लोगों का शोषण ही होते हुए देखा गया है। सुखी परिवार अभियान के नेतृत्व में हम कृतसंकल्प है रोशनी के साथ चलते हुए इस आदिवासी इंद्रांचल के जीवन को उन्नत बनाने एवं संपूर्ण मानवता को अभिप्रेरित करने के लिये। सुखी

परिवार अभियान के इतिहास का एक दुर्लभ और हीरक पृष्ठ है एकलव्य आवासीय मॉडल विद्यालय। शिक्षा की कमी को पूरा करने वाले इस उपक्रम से यह आदिवासी क्षेत्र लाभान्वित हो रहा है और उसका व्यापक असर भी दिखाई दे रहा है। इस विद्यालय में पढ़ने वाले छात्र न केवल राज्य स्तर पर बल्कि राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी प्रतिभा एवं क्षमता का परचम फहरा रहे हैं। न केवल शिक्षा बल्कि खेलकूद एवं अन्य क्षेत्रों में भी इस विद्यालय के प्रतिभाशाली छात्र यह साबित कर रहे हैं कि आदिवासी किसी भी दृष्टि से कमजोर नहीं है।

ग्रामीण और आदिवासी जनजीवन को उन्नत बनाने, कन्याओं को आगे लाने, रोजगार के नये अवसर उपलब्ध कराने, कौशल विकास एवं क्षेत्र में उन्नत खेती, विकास की नई–नई योजनाएं इन सब दृष्टियों से यह आदिवासी क्षेत्र अब पांव पर खड़ा हो रहा है। सुखी परिवार अभियान ने अपना इसमें अमूल्य योगदान देते हुए कन्याओं के लिए ब्राह्मीसुन्दरी कन्या छात्रावास, टेक्सटाइल पार्क, क्षेत्र में उपजे मसालों एवं खाद्य पदार्थ को उन्नत मार्केटिंग में ढालकर सुखी परिवार आदिवासी ग्रामोद्योग का संचालन किया जाना एवं सुखी परिवार (गौशाला) जीवदया संघ आदि अनेक योजनाएं संचालित की जा रही हैं। एकलव्य आवासीय मॉडल विद्यालय के रूप में जो एक नया इतिहास बना है उसकी विशेषता यह है कि यह जहां जमीन से जुड़े लोगों के सहयोग और सेवा का एक प्रकल्प है और इसे नरेन्द्र मोदीजी जैसे अनेक विशेषताओं वाले, दूरगामी सोच वाले, महान राजनीतिज्ञ, सफल प्रशासक और विज़नरी व्यक्तित्व का मार्गदर्शन, सहयोग और प्रेरणा प्राप्त हो रही है।

हमारी कठोर तपचर्या का ही परिणाम है– यह एकलव्य आवासीय मॉडल विद्यालय। सभी आध्यात्मिक महापुरुषों के आशीर्वाद से एवं देश के शीर्षस्थ नेतृत्व की शुभकामनाओं से एक अभिनव परियोजना इस आदिवासी अंचल में आकार ले सकी है, जो आने वाले समय में एक बहुत बड़े सेवा, शिक्षा, साधना, संस्कार निर्माण और जनकल्याण के प्रकल्प का रूप लेकर प्रस्तुत होगी। एकलव्य

आवासीय मॉडल विद्यालय विशेषतया ग्रामीण जनजीवन में शिक्षा के लिए अनुकल वातावरण का निर्माण कर रही है। बिना किसी जाति, वर्ग, वर्ण के भेद के सुखी परिवार अभियान आम जनजीवन से जुड़ रहा है। इसका मुख्य लक्ष्य सेवा है। जरूरतमंदों की जरूरतों को पूरा करना है। इस क्षेत्र की एक बहुत बड़ी कमी शिक्षा को समृद्ध बनाना है। इस एकलव्य आवासीय मॉडल विद्यालय के बन जाने से इस क्षेत्र के बच्चों को उच्च शिक्षा के लिए अन्यत्र नहीं जाना पड़ रहा है। हम शिक्षा भी उन्नत और सर्वसुविधायुक्त साधनों के साथ देने का प्रयत्न कर रहे हैं। हमारी शिक्षा का मूल लक्ष्य संस्कृति और संस्कारों को बल देना भी है। हमने जो ज्ञान ज्योति अभ्युदय यात्रा इस आदिवासी अंचल में आयोजित की, यह यात्रा भी शिक्षा के उद्देश्य को लेकर आयोजित हुई, साथ ही साथ आदिवासी लोगों को रूढ़िमुक्त बनाना एवं उनमें आपसी सौहार्द एवं सह–अस्तित्व की भावना का विकास करना भी इस यात्रा का ध्येय रहा है।

ज्ञान ज्योति अभ्युदय यात्रा अहिंसक समाज निर्माण की आधारभूमि बन कर प्रस्तुत हुई है, जब मैंने अपने आध्यात्मिक तेज से दो गुटों के खूनी संघर्ष को न केवल शांत किया, बल्कि दोनों गुटों को एक मंच पर ले आया। हमारी यात्रा के इस क्षेत्र में पहुंचने से दो दिन पहले ही खूनी संघर्ष में एक व्यक्ति की हत्या हुई थी और दोनों गुट व्यापक हिंसा एवं जनहानि के लिये तरह–तरह के हथियार लिये एक दूसरे को मारने के लिये उतावले थे। हिंसा की व्यापक संभावना को देखते हुए सभी लोगों ने हम से निवेदन किया कि हमें इन दो ग्रामों को छोड़कर ही अपनी यात्रा को आगे बढ़ाना चाहिए। लेकिन मैं इसके लिये तैयार नहीं हुआ और कहा कि यही तो हमारी यात्रा की वास्तविक चुनौती है और हम इससे डर कर पलायन करेंगे तो कौन इन लोगों को मार्ग दिखायेगा? अहिंसा की बात कैसे साकार होगी? कैसे लोगों के दिलों में घर कर गयी नफरत एवं घृणा दूर होगी? अविवेक एवं नासमझी की स्थितियों में कब तक लहू बहता रहेगा? अपने संकल्प पर दृढ़ होकर मैं अपने काफिले के साथ इन हिंसा एवं तनावभरी स्थितियों

के बीच गया और दोनों गुटों को अपने उपदेशों से प्रेरित किया। बड़ी हिंसा टली। अहिंसा केवल उपदेश नहीं व्यवहार में चरितार्थ होते हुए देखी गयी। सचमुच आदिवासी लोगों को प्यार, करूणा, स्नेह एवं संबल की जरूरत है जो सुखी परिवार अभियान जैसे मानव कल्याणकारी उपक्रम से ही संभव है, सचमुच एक रोशनी का अवतरण हो रहा है, जो अन्य हिंसाग्रस्त क्षेत्रों के लिये भी अनुकरणीय है। लगभग एक दशक पहले की इन घटनाओं में सभी स्थानीय लोगों में एक भय व्याप्त था जिसे दूर किया गया। दस वर्ष की अवधि बीत गयी है। आज इस क्षेत्र में हिंसा की एक भी वारदात नहीं हुई है।

आदिवासी जनजीवन में भी बहुत उजाले हैं, लेकिन इन उजालों को छीनने के प्रयास हुए है, हो रहे हैं और होते रहेंगे। आज बाहरी खतरों से ज्यादा भीतरी खतरे हैं। हिंसा और अलगाव की कई चुनौतियां हैं, जो समाधान चाहती है। इसी गुजरात में ऐसे अलगाववादी एवं गुमराह हुए युवकों ने भिलिस्तान आंदोलन खड़ा किया है जो हिंसा का एक बड़ा सबब बनकर आतंक का पर्याय बन चुका है। न केवल गुजरात सरकार के लिए बल्कि केन्द्र सरकार के लिए भी यह आंदोलन एक समस्या बन गया था। अभी हाल ही में वष 2017 में मैंने इस क्षेत्र की सघन यात्रा की और भिलिस्तान आंदोलन से जुड़े युवकों को से अनेक सत्रों में वार्तालाप किया। उन्हें समझाने की कोशिश की कि किसी भी समस्या का समाधान हिंसा नहीं है। हिंसा से हिंसा, नफरत से नफरत और घृणा से घृणा बढ़ती है। हमें अपनी बात कहने के लिए अहिंसा को आधार बनाना चाहिए। समय अधिक लगता हो लेकिन अहिंसक तरीके से की गई बातचीत का असर दूरगामी होता है। मेरी बातों का इन युवकों पर व्यापक असर हुआ और उन्होंने भिलिस्तान आंदोलन को समाप्त करने का निर्णय ले लिया। जो समस्या राजनीति के स्तर पर लंबे समय से उलझती ही जा रही थी। सहज ही उसका समाधान हो जाना आदिवासी क्षेत्र के हित की दृष्टि से बड़ी उपलब्धि है। मेरी मान्यता है कि गलत प्रश्न पर कभी भी सही उत्तर नहीं मिला करते। जब रोटी की जरूरत हो तो रोटी ही समाधान बनती है।

रोटी के बिना आप किसी सिद्धान्त को ताकत का इंजेक्शन नहीं बना सकते।

सुखी परिवार अभियान का उद्घोष दिया गया है– आपकी खुशी, हमारी खुशी, आपका सुख, हमारा सुख। पूज्य आचार्य विजय वल्लभजी महाराज एवं गुरु इन्द्र ने परिवार को सुखी और आदर्श बनाने के लिए व्यापक प्रयत्न किए। विशेषतः इसी इंद्रांचल की आदिवासी जनता के उत्थान की दृष्टि से गुरु इंद्र ने व्यापक प्रयत्न किए, उन्हीं प्रयत्नों को सुखी परिवार अभियान के माध्यम से आगे बढ़ाया जा रहा है।

इस क्षेत्र के लोगों का सौभाग्य ही माना जायेगा कि उन्हें राजनीति एवं धर्म की मिलीजुली शक्तियों का योग मिल रहा है। इस क्षेत्र से जुड़ी योजनाओं की क्रियान्विति के लिये मेरे मन में एक तडप रही है। मैंने इस क्षेत्र के विकास के लिए लंबी–लंबी तपस्याएं की हैं, यात्राएं की हैं, राज्य एवं केन्द्र सरकार के मंत्रियों, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री आदि से मिलकर इस क्षेत्र के विकास के लिए व्यापक प्रयत्न किये हैं।

गुजरात सरकार के सहयोग से नर्मदा नदी से होपेशवर ग्राम और वहां से कवांट तहसील के ग्रामों तक निर्मल एवं पवित्र जल देने की लिफ्ट योजना करीब सौ करोड़ की लागत से फलीभूत हुई हैं। इसी भांति वर्षों से कवांट आने के लिए ब्रिज की अपेक्षा थी। बरसात के दिनों में इस ब्रिज के अभाव में इस क्षेत्र के लोगों को करीब 25–30 किलोमीटर लम्बा चक्कर लगाकर आना पड़ता था। यह ब्रिज भी बनकर तैयार हो चुका है। इसी भांति आदिवासी क्षेत्र की एक उपयोगी एवं विकासमूलक योजना एग्रीकल्चर प्रोडक्ट मार्केटिंग कॉरपोरेशन की बिल्डिंग का बनना भी है।

ये सभी जनोपयोगी एवं लोक कल्याणकारी गतिविधियां यह जाहिर करती है कि संतों के चरण जहां पड़ते है, वहां मंगल ही मंगल है। इक्कीसवीं सदी का पहला दशक इस आदिवासी क्षेत्र के विकास एवं उत्थान के लिये शुभ रहा है। इसी तरह का स्वस्थ एवं समतामूलक विकास आदिवासी या पिछड़े क्षेत्रों में होता रहा तो मेरा मानना है कि इस देश में आतंकवाद, नक्सलवाद,

माओवाद जैसी समस्याएं सिर उठाने का नाम नहीं लेगी। मेरी दृष्टि में सुखी परिवार अभियान ने सैकड़ों जीवन बचाने, हजारों बेघर लोगों का जीवन बेहतर बनाने, हजारों–हजारों आदिवासी बच्चों को शिक्षा प्रदान करने एवं आदिवासी कन्याओं को उच्चशिक्षा के लिये प्रोत्साहित करने के लिये सहायता के जो उपक्रम चलाये गये, वे परोपकार, सेवा एवं जनकल्याण के प्रेरक उदाहरण हैं। सबसे बड़ा काम मेरी दृष्टि में जो हुआ है वह है इस क्षेत्र के लोगों को नशामुक्त बनाना, आडम्बर एवं रूढ़िमुक्त बनाना एवं अहिंसा के मार्ग पर अग्रसर करना है। विशेषत युवाओं, महिलाओं, बच्चों एवं वृद्धों को ऐसी प्रगाढ़ता एवं भावनात्मक नजदीकी मिली तथा ऐसा स्नेह, आपसी सौहार्द एवं सुरक्षा प्राप्त हुई जो उनके जीवन से बहुत दूर जा चुके थे।

इस क्षेत्र के लोगों के चेहरों पर मुस्कान लाने के लिए समय–समय पर सांस्कृतिक कार्यक्रमों यथा नृत्यसंगीत एवं लोक संस्कृति से जुड़े कार्यक्रमों को आयोजित किया। मैराथन जैसे प्रयोगों से लोगों में उत्साह जागा। वे अपनी संस्कृति से जुड़कर अपने आपको अधिक समृद्ध महसूस करने लगे हैं। इस क्षेत्र में उन्नत खेती की संभावनाओं को उजागर करते हुए टमाटर, कपास और अन्य पैदावार को आधुनिक तकनीक एवं संसाधनों के साथ उपजाने के प्रयत्न किये जिससे यह पैदावार हजारों गुणा बढ़कर इस क्षेत्र की खुशी का माध्यम बन गयी है। अब इस क्षेत्र में विचरण करते हुए कोई भी व्यक्ति यह नहीं कर सकता कि यह आदिवासी क्षेत्र अविकसित है, पिछड़ा है और अनपढ़ है। यहां के युवक और यहां की जनता किसी भी प्रतिस्पर्द्धा में अव्वल ही खड़ी होती है। ●

13

पिथौरा कला अमूल्य धरोहर है

आदिवासी जनजीवन लोक कला की दृष्टि से भी समृद्ध है। उनकी पिथौरा कला न केवल आदिवासी लोगों के लिए बल्कि आम जनजीवन के लिए भी प्रेरक और मोहक है। आदिवासी जनजीवन में पिथौरा देव एवं पिथौरा कला का गहरा रंग है, यह वहां की जीवनशैली है। न केवल मांगलिक एवं शुभ अवसरों पर बल्कि बीमारी की अवस्था में

भी या संकट के क्षणों में आदिवासी लोग अपने पिथौरा देव एवं पिथौरा कला को समस्याओं के तत्काल समाधान के लिए उपयोग करते हैं। उसके प्रति आस्था एवं श्रद्धा व्यक्त करते हैं। यह उनके लिए चमत्कारी एवं तत्काल प्रभावी प्रयोग है। यह वहां की सभ्यता और संस्कृति का अभिभाज्य अंग है जिससे आदिवासी जनजीवन नई ऊर्जा प्राप्त करते हैं।

गुजरात और मध्य प्रदेश के भीलों की रथवा जनजाति का विश्वास है कि संसार की रचना पहली बारिश और पृथ्वी के संयोग से हुई। विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताओं की तरह उनके गीतों में चार महाद्वीप वाली रानी पृथ्वी और इंदीराजा का वर्णन है जो स्वर्ग में रहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी को माता और आकाश को पिता मानकर उनके साहित्य और पिथौरा कला की रचना हुई है। पिथौरा कला के लोकचित्रों में बैल और गाय को भी प्रमुखता के साथ चित्रित किया गया है। अन्य जीव–जंतुओं का भी उसमें प्रभावी चित्रण देखने को मिलता है जिससे यह जाहिर होता है कि आदिवासी लोग संपूर्ण सृष्टि के जीव–जंतुओं से बेहद प्रेम करते हैं। यह कला उनके व्यापक दृष्टिकोण का प्रतीक है एवं आस्था और भक्ति का अनूठा नमूना भी है।

जंगल, जल, बादल, अंधे और लंगड़े प्राणियों को भी कला का विषय बनाया गया है। घोड़ों का हर स्थान पर बहुत महत्व के साथ चित्रण हुआ है। उन्हें दौड़ते हुए और आकाश में उड़ते हुए दिखाया गया है। आज भी इस जनजाति में विवाह जैसे सभी मांगलिक एवं शुभ अवसरों पर घर के भीतर के कमरे में देवता की स्थापना की जाती है तथा दीवारों पर पारंपरिक नियमानुसार पिथौरा देव के चित्र अंकित किये जाते हैं। वे आदिवासी उद्धारक एवं उन्नायक होने के साथ–साथ आस्था के केन्द्र हैं।

पिथौरा शैली की चित्रकला का आदिवासी धार्मिक जीवन में खासा महत्व है। आदिवासी जनजीवन के लोग पिथौरा देव की पूजा करने से पहले अपने पूरे घर की सफाई और दीवारों की पुताई करते हैं। दीवार पर चित्र उकेरने से पहले दीवार के जितने बड़े हिस्से पर पेंटिंग बनानी है, पहले चॉक से बैकग्राउंड तैयार

करते हैं, फिर ज्योमेट्री शेप वाले बॉर्डर से उसे घेर देते हैं। इस पारंपरिक पेंटिंग की खास बात यह है कि इसे सिर्फ पुरूष ही बना सकते हैं। राठवा जनजाति के लोगों के बीच ऐसी धारणा है कि अगर कोई महिला पिथौरा पेंटिंग बनाए तो उसकी मृत्यु हो जाती है।

इनके लिए पिथौरा देव अति विशिष्ट व पूजनीय होते हैं। जो अपने घर में अधिकाधिक पिथौरा चित्र रखते हैं वे समाज में अति सम्माननीय होते हैं। पिथौरा चित्रकार को लखाड़ा कहा जाता है तथा जो इन चित्रकलाओं का खाता रखते हैं, उन्हें झोखरा कहा जाता है। सर्वोच्च पद पर आसीन जो पुजारी धार्मिक अनुष्ठान करवाता है उसे बडवा कहा जाता है।

पिथौरा कला एक समृद्ध एवं लोक जीवन से जुड़ी अमूल्य धरोहर है। आदिवासी कला की यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और यह मुख्यतः तीन गुणों से पहचानी जाती है– जीवंतता, प्रमाणिकता और प्रभावकता। लोक संस्कृति से जुड़े विविध पक्षों को आदिवासी समुदाय सहज कलात्मक समझ के अनुसार रंगों और रेखाओं के माध्यम से प्रकट करता आया है। यह कला आदिवासी जनजीवन के आस–पास तथा उनकी अनुभूतियों का सृजनात्मक संकलन है। आधुनिक समाज में कलाकार को एक विशिष्ट दर्जा प्राप्त है। जबकि लोक संस्कृति या आदिवासी जीवन में हर व्यक्ति एक विशेष किस्म का कलाकार होता है और इन कलाकारों का जीवन आम लोगों से भिन्न नहीं देखा जा सकता। ये कलाकार जो कुछ बनाते हैं उसमें उपयोगिता और सौंदर्याभिरुचि दोनों तत्व मौजूद रहते हैं। कला यहां दूर से देखने की चीज नहीं होती। आदिवासी कला यथार्थ के करीब होती है क्योंकि उसमें जो वे जीते हैं और आत्मसात करते हैं, उसी का चित्रांकन होता है। आजादी के बाद के वर्षों में आदिवासी पिथौरा कला में निस्संदेह और निखार आया है लेकिन उसने जो खोया है वह भी कम नहीं है। इन सत्तर वर्षों में इनकी आत्मा पर कृत्रिमता का प्रहार हुआ है।

आदिवासी पिथौरा कला सिर्फ अमूल्य धरोहर ही नहीं कही जा सकती, वरन समृद्ध परंपरा सम्पन्न सभ्यता एवं जीवंत संस्कृति के

इतिवृत हैं। ये कला वस्तुतः आदिवासी समाज के जनमानस का आईना है। सदियों से अनाम–अनजाने हाथों में रचे बसे, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सहज परम्परागत ढंग से हस्तांतरित होनेवाली इस कला में लोक मानस के हर्ष–उल्लास, आशा–आकांक्षा, कुंठा–संत्रास आदि मनोभावों की कल्पनायुक्त सरस अभिव्यक्ति मिलती है। महत्वपूर्ण माध्यम नहीं है– सवाल अभिव्यक्ति में आस्था का है। मिट्टी, प्राकृतिक रंगों और सहज कल्पनाओं तथा अवधारण ाओं से आदिवासी गांवों की दीवारों पर जो पिथौरा चित्रकारी नजर आती हैं, उनमें एक तरफ बच्चों की सी मासूमियत दिखती हैं तो दूसरी ओर बूढ़ों का अनुभव संसार भी किसी–न–किसी रूप में परिलक्षित होता है। भूख, अभाव, भटकाव और बेरोजगारी से जूझते जनजाति कलाकार कला के क्षेत्र में जिस ढंग से सक्रिय है, वह अपने आप में मिसाल है और यह बात इस बात की भी पुष्टि करता है कि मनुष्य केवल पेट के लिए परिश्रम नहीं करता। विज्ञान की भाषा में मनुष्य को होमासेपियन कहा गया है। इसका अर्थ होता है बुद्धिप्रवण प्राणी। ऐसी हालत में केवल आहार, निद्रा, भय और मैथुन की परिधि में मनुष्य बंधा नहीं रह सकता। आदिवासी समुदाय आज पिछड़ा हुआ समझा जाता है। लेकिन उनकी सृजनात्मक चित्रकला तथा विभिन्न कला विधाओं से लगता है कि गरीबी और अन्य समस्याएं कला की गति को नहीं रोक सकती।

आदिवासी पिथौरा चित्रकला में पशु–पक्षियों तथा मनुष्य जीवन के विविध पक्षों का जो चित्रण हुआ है और हो रहा है, वह मनुष्य और प्रकृति के रिश्ते के बारे में बहुत कुछ कहता है। अभिव्यक्ति के स्तर पर यह चित्रकला जिन विषयों को अभिव्यक्त करती है वे कहीं से भी कला की दुरूहता को स्थापित नहीं करती, बल्कि वे कला की सहजता की वकालत करती है। हालांकि इस बास से इंकार नहीं किया जा सकता कि कलाओं के लिए कई सकारात्मक कदम भी उठाये गये हैं। फलतः,गुमनामी में जी रहे कई आदिवासी लोक कलाकारों ने ख्याति पायी, वाजिब सम्मान पाया। पिथौरा कला आदिवासी जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा है। कला का आनंद किसी चीज का विकल्प नहीं था। कलात्मक अभिव्यक्तियां विश्लेषण के

लिए नहीं होती और न ही इनकी कोई कीमत होती है।

कुछ एक कलाकारों ने विश्व ख्याति प्राप्त की। लेकिन इस ख्याति ने इन पिथौरा कला को परंपरा से जुदा कर दिया। जो शुरू में अपनी सहजता और नैसर्गिकता के लिए जानी जाती थी, धीरे–धीरे दुरूहता और कृत्रिमता का आभास देने लगी। इस कला को दीवार से हटाकर कैनवास और कागज पर लाकर विचार किया जाने लगा तो इसकी स्वाभाविकता तो नष्ट हुई ही, हल्दी और गौमूत्र की जगह रासायनिक रंग आ गये। इस कला के संवर्धन के लिए कुछ प्रयास किए हैं, इस कला और इससे जुड़े मिथक को संसार के समक्ष किताब की शक्ल में भी लाने की कोशिश की गयी है। वाबजूद इसके ये कला अपने स्वाभाविकता से दूर होती नजर आ रही है। दरअसल, लोक परंपरा भागीदारी और प्रतिबद्धता की मांग करती है। यह लोगों के दैनिक जीवन का एक हिस्सा है। इसलिए पिथौरा लोककला और आदिवासी कला के संरक्षण तथा संवर्धन की बहुत आवश्यकता है। यह कला स्वतंत्र हैं और सृष्टि के साथ समरस होकर जीने का संदेश देती है। क्योंकि इसके चित्रांकन में केन्द्र का भाग विशेष महत्व का है जहां पिथौरा के घोड़े को छोटी–छोटी बिन्दियों अथवा रेखाओं द्वारा विशेष रूप से अलग कर के दिखाया गया है। दूसरी पंक्ति में अन्य चरित्र जैसे सितुरानो, रानी काजल, पिथौरा, वलन या इंदीराजा को उनके विशेष रूप रंग अथवा हाव भाव जैसे हुक्का पीते हुए या चिड़िया पकड़े हुए अलग से पहचाना जा सकता है । इसके बाहरी और तीसरे हिस्से में रावण, ढोलची, बैलगाड़ियां और हाथी आदि चित्र को सम्पूर्णता प्रदान करते हैं।

गुजरात की अन्य लोक कलाओं की भांति इन चित्रों में भी चटकीले रंगों और रंगों की विविधता के दर्शन होते हैं। पशु–पक्षियों के चित्रण में विस्तार देखने को मिलता है और रेखाओं में लय का सुंदर प्रयोग किया जाता है। घोड़े और हाथियों के वस्त्र तथा मछली और मुर्गियों का सौंदर्य देखते ही बनता है।

पिथौरा की ये विविधताएं आज गुजरात में दीवारों, कपडों , चादरों और बगीचे की छतरियों में बहुलता से मिलती है। इन्हें

गुर्जरी अथवा गुजरात इम्पोरियम जैसी सरकारी या गैर सरकारी हस्तकला संस्थाओं से हर दाम में प्राप्त किया जा सकता है। मूल चित्र काफी मंहगे हो सकते हैं किन्तु प्रतिकृतियां बहुतायत में उपलब्ध हैं और इनके दाम भी कुछ अधिक नहीं हैं। लेकिन इस कला को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार को ध्यान देना चाहिए।

भील जाति के लोग पिथौरा चित्रकला में माहिर हैं। वे अपने घरों की दीवारों को चित्रों से रंगते हैं। यह चित्रकला बड़ोदा से 90 किलोमीटर पर स्थित तेजगढ़ ग्राम (मध्य गुजरात) में रहने वाली राठवा, भील व नायक जनजाति के लोगों द्वारा दीवारों पर बनाई जाती है। ऐसा माना जाता है कि यह शांति और खुशहाली का प्रतीक हैं। इन चित्रों में भील जनजाति के रोजमर्रा के जीवन, पशु–पक्षी, पेड़ और त्यौहार के प्रसंग अंकित किए जाते हैं।

रंग बनाने के लिए रंगीन पाउडर में दूध व महुआ का प्रयोग किया जाता है। चित्र बनाने के लिए मुख्यतः पीले, नारंगी, हरे, नीले, सिन्दूरी, लाल, आसमानी, काले व चांदनी रंगों का प्रयोग किया जाता है। ब्रश बनाने के लिए बेंत या टहनी के किनारों को कूटा जाता है।

इस शैली में चित्र बनाने के लिए पेड़–पौधों से निकाले गए रंगों का इस्तेमाल होता है। इसके बाद बांस से बनी कूंची की मदद से पेंटिंग की जाती है। यहां पिथौरा देव के साथ किसानों की देवी खुरपा माता की भी पूजा की जाती है। इस आदिवासी किसान फसल कटने के बाद एवं खेतों के अन्न का प्रयोग करने से पहले उसी देवता को अर्पित करते हैं।

इस शैली की पेंटिंग में किसानों के काम से संबंधित जानवर जैसे गाय, बैल, घोड़े और बकरी की आकृतियां विशेष रूप से उकेरे जाने के कारण वे मानते हैं कि ये आकृतियां उनके लिए शुभ हैं।

आज परम्परागत पिथौरा कला में काफी बदलाव आ गया हैं। अब पिथौरा पेंटिंग बनाने के लिए बांस से बने ब्रश के बजाय बाजार में बिकने वाली पेटिंग के ब्रश और मार्केट में मौजूद रंगों का उपयोग होता है। पहले तो लोग सिर्फ पूजा–पाठ के मौकों पर ही यह बनाते थे, लेकिन अब लोग कागज और कपड़े पर भी

इस पेंटिंग को उकेरते हैं। लोगों की पसंद को देखते हुए पिथौरा कलाकार इस शैली में सोफा कवर, बेड कवर और छतरियों पर भी पेंटिंग करने लगे हैं जिससे इस कला की महिमा एवं गरिमा कम हुई है, भले ही लोकप्रियता बढ़ी हैं।

पिथौरा पेंटिंग का चित्रांकन एक अनुष्ठान की तरह होता है। यह कला भारत में एक मात्र ऐसी कला है, जिसमें विशिष्ट ध्वनि सुनना, उसे समझना और लेखन से चित्र रूप प्रदान करना प्रमुख है। इसमें एक संपूर्ण संस्कृति समाहित है। यह एक ऐसी कला है जिसमें गीत–संगीत का अद्‌भुत समन्वय है। आज इस कला को आदिवासी जनजीवन में और अधिक जीवंत बनाने के साथ–साथ इस कला से विश्व समुदाय को परिचित कराने की अपेक्षा है। इसके कलाकारों को सरकार की ओर सम्मान और प्रोत्साहन भी दिया जाना अपेक्षित है। ●

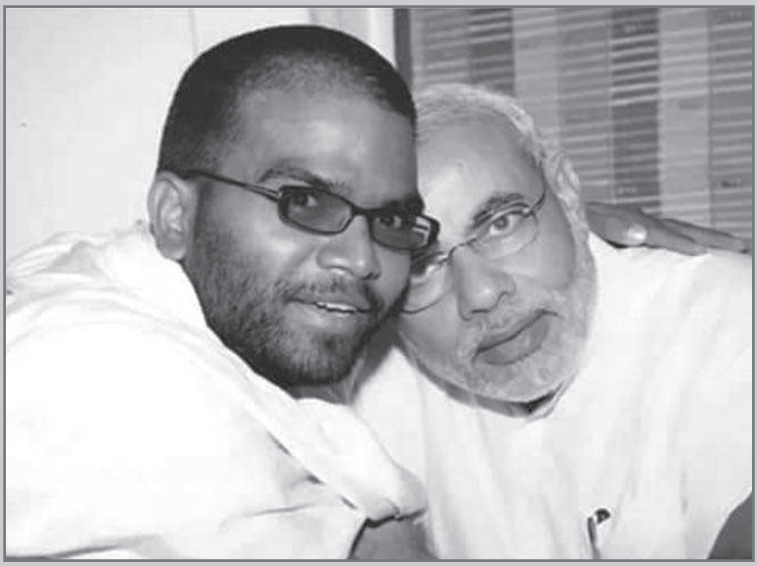

प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के साथ लेखक गणि राजेन्द्र विजय